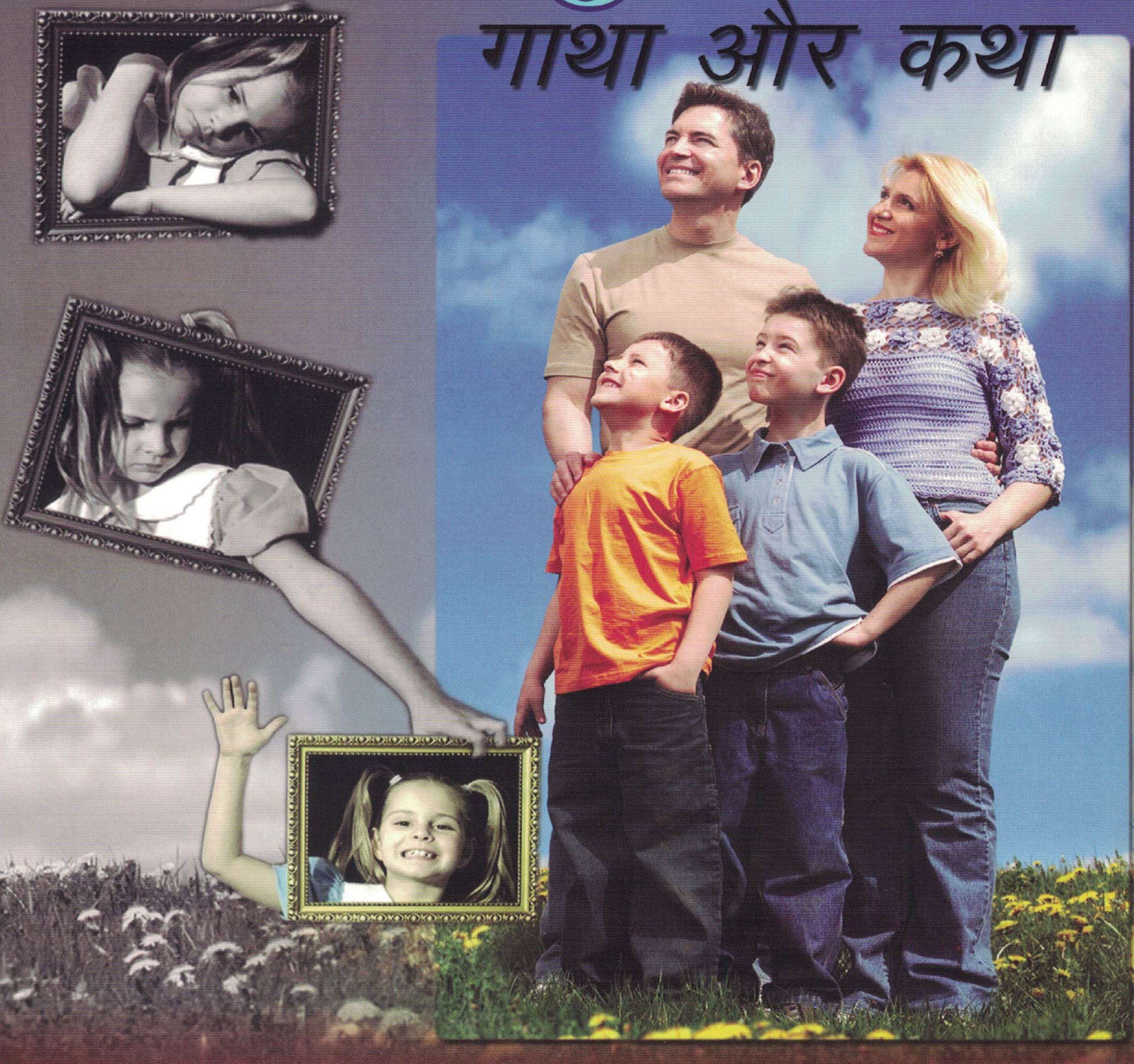
क्या तुम सचमुच सुख चाहते हो ?

धम्मपद

सुख वर्ग

गाथा और कथा



क्या तुम सचमुच सुख चाहते हो ?

धम्मपद

सुख वर्ग

गाथा और कथा

संस्कारक
हृषीकेश शरण

विषय सूची

सुख वर्ग



गाथा: सुसुखं वत जीवाम, वेरिनेसु अवेरिनो।
वेरिनेसु मनुस्सेसु, विहराम अवेरिनो।।197।।

अर्थ: शत्रुओं के साथ भी हम अशत्रुता का व्यवहार कर सुखपूर्वक जीवन जीए। मनुष्यों द्वारा शत्रुता करने पर भी उनसे हम अशत्रु (मित्र) की तरह व्यवहार करें।

हम मैत्री सुख में जीवित रहें
बुद्ध के रिश्तेदारों के शांत होने की कथा
स्थान : रोहिणी नदी का किनारा

इन गाथाओं को बुद्ध ने अपने रिश्तेदारों के संदर्भ में कहा था जो रोहिणी नदी के जल के बँटवारे को लेकर आपस में लड़ रहे थे।

कथा के अनुसार शाक्य और कोलिय राज्यों के बीच रोहिणी नदी के ऊपर एक बाँध था। यह कपिलवस्तु तथा कोलिय नगरों के बीच स्थित था । दोनों ही राज्यों के किसान सिंचाई के लिए इस नदी के जल का उपयोग करते थे। ज्येष्ठ का महीना आया और फसल सूखने लगी, तब दोनों तरफ जमीन के मालिकों द्वारा खेती करने के लिए लगाये हुए मजदूर जमा हो गए । कोलिय राज्य के निवासियों ने कहा, "अगर नदी का जल दोनों ही तरफ बाँट दिया जाता है तब पर्याप्त जल न तो आप लोगों को प्राप्त होगा और न हमलोगों को। लेकिन हमारी फसलें एक ही पानी मिलने से लहलहा उठेंगी । इसलिए हमलोगों को खेत में पानी पटा लेने दीजिए। "

शाक्य किसानों ने उत्तर दिया, "फसलों से जब तुमलोग अपना गोदाम भर लोगे तब हमलोगों को सोना-चाँदी और अन्य बहुमूल्य रत्न, हाथ में टोकरी और बोरा लेकर, एक घर से दूसरे घर जाकर अन्न के लिए भिक्षाटन करना होगा। हमसे यह सब नहीं हो सकेगा । हमारी फसल भी सिर्फ एक बार पानी मिल जाने से सूखने से बच जायेगी । अत: हमलोगों को इस जल का व्यवहार करने दो।"

'हमलोग तुम्हें पानी नहीं देंगे।"

"हमलोग भी तुम्हें पानी नहीं देंगे।"

इस तरह वाद-विवाद होने लगा। दोनों पक्ष में गर्मा-गर्मी होने लगी और अंतत: भीड़ में से एक आदमी उठा और उसने दूसरे समूह के एक आदमी को जोर से थप्पड़ दे मारा। दूसरे ने भी उसका जवाब थप्पड़ से दिया और फिर दोनों समूहों में आपस में लड़ाई शुरू हो गई। तू-तू, मैं-मैं होने लगी और बात यहाँ तक पहुँच गई कि दोनों समूह एक दूसरे के राजवंशजों को गाली देने लगे और उन्हें 'दोगला' कहकर सम्बोधित करने लगे। कोलिय राज्य के मजदूरों ने कहा, "तुम लोग, कपिलवस्तु के निवासी, अपने बाल-बच्चों को साथ ले लो और वहाँ जाकर रहो जहाँ तुम्हारा निवास है। तुम जिन राजपरिवारों के बल-बूते पर कूद रहे हो वे कौन थे ? ये कपिलवस्तु के राजपरिवार के लोग वही हैं जिनके वंशज अपनी बहनों के साथ भी कुत्ते-बिल्लियों की तरह सहवास किया करते थे। तुम लोगों के हाथी-घोड़ों की सेना तथा खड्ग-भाला के अस्त्र-शस्त्र हमारा क्या नुकसान कर पायेंगे?"





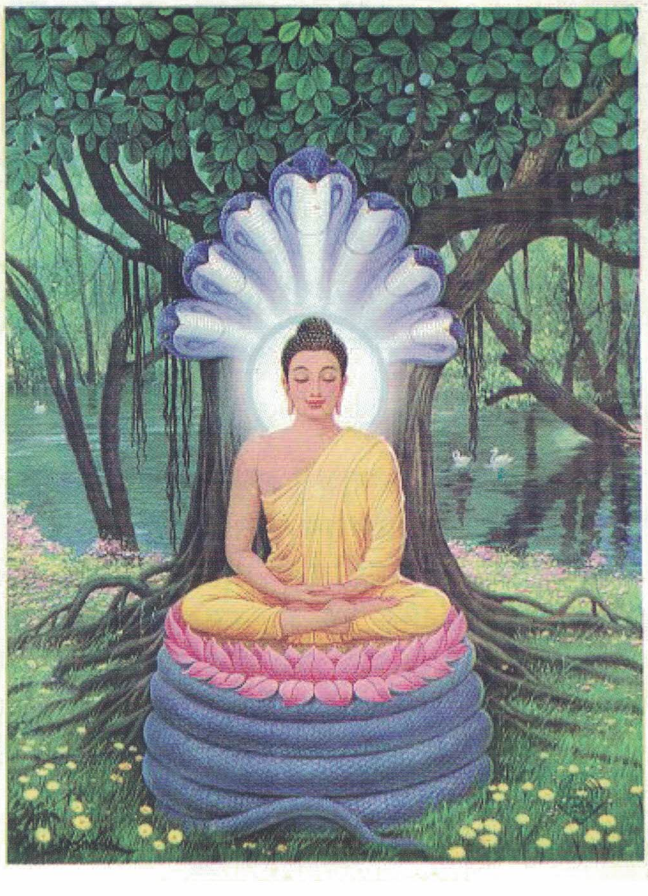
गाथा: सुसुखं वत जीवाम, अतुरेसु अनातुरा।
आतुरेसु मनुस्सेसु, विहराम अनातुरा।।198।।

अर्थ: रोगियों के बीच पीड़ा रहित हो हम सुखपूर्वक जीवन जियें।
रोगी मनुष्य के बीच स्वस्थ रहकर विचरण करें।

बीमारों में स्वस्थ
बुद्ध के रिश्तेदारों के शांत होने की कथा

शाक्य किसानों के श्रमिकों ने कहा, "तुम कोढ़ी लोग, अपने- अपने बच्चों को लो और वहाँ जाकर रहो जहाँ कोढ़ियों के रहने की जगह है। तुम जो कोलिय राज्य के वंशजों के आधार पर गर्जन कर रहे हो, वे कौन थे ? वे अनाथ और शरण विहीन थे। अतः पशु-पक्षियों की तरह पेड़ों पर अपना जीवन बिताते थे। ऐसे लोगों के हाथी-घोड़े और अस्त्र-शस्त्र भला हमारा क्या बिगाड़ लेंगे ?" दोनों तरफ के श्रमिकों ने अपने-अपने अधिकारियों को पूरी बात बताई और उन अधिकारियों ने आगे अपने-अपने राजकुल में जाकर बताया कि किस प्रकार पानी के पृष्ठभूमि में दोनों ही पक्षों में गाली-गलौज हो रहा था। तब शाक्य राजवंश के सदस्य अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर युद्ध की तैयारी करके आए और चिल्लाने लगे, "अब हम लोग कोलिय वासियों को बतायेंगे कि जो अपने बहनों के साथ मैथुन करते थे,उनमें कितनी शक्ति है।" उधर कोलिय राजवंश के सदस्य भी युद्ध के लिए पूरी तैयारी कर आ पहुँचे और गर्जन किया, "अब हम लोग उन लोगों की शक्ति और बल दिखायेंगे जो वृक्षों पर निवास करते थे।" इस प्रकार दोनों पक्षों में युद्ध के लिए तैयारी होने लगी।

उस दिन प्रातः काल शास्ता ने अपनी अन्तर्दृष्टि से जगत का सर्वेक्षण किया और अपने सगे-संबन्धियों की मनः स्थिति देखी और मन ही मन सोचा, "अगर मैं वहाँ नहीं जाता हूँ तो ये दोनों ही पक्ष अपना नाश कर लेंगे क्योंकि वे दोनों ही युद्ध करने के लिए उद्यत हैं। अतः मैं वहाँ चलता हूँ। मेरा कर्त्तव्य बनता है कि मैं दोनों पक्षों के बीच होने वाले युद्ध को रोकूँ।" यह सोचकर वे आकाश-मार्ग से उड़ चले तथा उस स्थान पर जा पहुँचे जहाँ उभय पक्ष की जनता लड़ने के लिए बेताब हो रही थी। वहाँ पहुँचकर वे पद्मासन की मुद्रा में रोहिणी नदी के बीच में आकाश में विराजमान हो गए। जब दोनों पक्षों के सगे-संबंधियों ने उन्हें देखा तो अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र एक तरफ रख दिये और उन्हें सादर प्रणाम कर अपनी श्रद्धा प्रकट करने लगे।





गाथा: सुसुखं वत जीवाम, उस्सुकेसु अनुस्सुका।
उस्सुकेसु मनुस्सेसु, विहराम अनुस्सुका।।199।।

अर्थः दुखी, आसक्त पुरुष-नारियों के बीच, जो व्यग्रता से सांसारिक चीजों के पीछे दौड़ रहे हैं, हम जो अनासक्त हैं और सांसारिक चीजों के पीछे नहीं दौड़ रहे हैं, सुखपूर्वक जीवन जिए उन लोगों के साथ अनासक्त होकर जियें जो सांसारिक चीजों और आनन्द की वस्तुओं में आसक्त होकर जीवन जी रहे हैं।

तूफानों में भी उत्तम शांति
बुद्ध के रिश्तेदारों के शांत होने की कथा

तब शास्ता ने अपने रिश्तेदारों से पूछा, "राजन ! यह झगड़ा किस बात को लेकर हो रहा है ?" "हमें नहीं मालूम, भन्ते !" "किसे मालूम हो सकता है ?" "सेनाध्यक्ष को मालूम हो सकता है।" सेनाध्यक्ष ने कहा, "मेरे अधीनस्थ पदाधिकारी को संभवतः मालूम हो।" इस प्रकार बुद्ध ने एक से प्रश्न पूछा और उसके बाद दूसरे से और इस तरह सबसे पूछते-पूछते अंततः दासों से पूछा। उन श्रमिकों ने बताया, "सारे फसाद की जड़ रोहिणी नदी के पानी का बँटवारा है।" तब बुद्ध ने राजा से पूछा, "जल का कितना मूल्य है राजन ?" "उसका मूल्य तो अत्यल्प है, थोड़ा सा है।" "महाराज ! एक क्षत्रिय अर्थात् मनुष्य के शरीर का क्या मूल्य है ?" "भन्ते ! उसका क्या मूल्य लगाया जा सकता है ? वह तो अमूल्यवान है। वह तो मूल्य से परे है।" "क्या यह अनुचित नहीं है कि तुम लोग थोड़े से जल के लिए उस शरीर को नष्ट करने पर तुले हुए हो जिसका मूल्य आँका ही नहीं जा सकता।" यह सुनकर वे सभी निरुत्तर हो गए।

तब बुद्ध ने दोनों पक्षों को संबोधित किया, "हे महाराजागण ! आप इस तरह क्यों कर रहे हैं ? अगर मैं आप लोगों के मध्य आकर बीच-बचाव नहीं करता तो आज यहाँ खून की नदी बह जाती। आप दोनों पक्षों ने जो भी किया वह सर्वथा अनुचित था। तुम पाँच प्रकार के वैरों को साथ बाँधकर वैर-पूर्वक जीते हो। मुझे देखो, मैं निर्वैर होकर घूमता हूँ। तुम बुरी कामनाओं की बीमारी से ग्रसित होकर जीवन जीते हो। मैं इस बीमारी से परे जीता हूँ। मैं किसी भी भोग की वस्तु के पीछे नहीं भागता।"





गाथा: सुसुखं वत जीवाम, येसं नो नत्थि किञ्चनं।
पीतिभक्खा भविस्साम, देवा आभस्सरा यथा। ।200। ।

अर्थ: जिन हम लोगों के पास कुछ भी नहीं है, हम सुखपूर्वक जीवन जीते रहेंगे। हम आभास्वर देवताओं की तरह, प्रीति ही भोजन है जिनका, प्रीति भक्षण से ही अपना काम चला लेंगे।

हमारा सुख दिव्य सुख से कम नहीं
मार की कथा

स्थान : पंचशाला ब्राह्मणग्राम

यह गाथा बुद्ध ने पंचशाला नामक ब्राह्मणों के गाँव में मार के संदर्भ में कही थी।

एक दिन बुद्ध ने अपनी अंतर्दृष्टि से देखा कि ब्राह्मणों के पंचशाला नामक गाँव की अनेक युवतियाँ स्रोतापन्न प्राप्त करने की स्थिति में हैं। एक दिन गाँव की अनेक युवतियाँ नदी के तट पर स्नान करने गईं; स्नान के बाद वे पूरी तरह सज-धजकर गाँव लौटीं क्योंकि वह किसी त्योहार का दिन था। उसी समय बुद्ध भी पंचशाला ग्राम में प्रविष्ट हुए लेकिन उस दिन किसी भी ग्राम-वासी ने उन्हें भोजन-दान नहीं दिया क्योंकि वे सभी मार के मंत्र से पूर्णत: प्रभावित हो गए थे, मार ने उन्हें अपने वश में कर लिया था।

जब बुद्ध गाँव से लौट रहे थे तो राह में मार मिल गया। उसने शास्ता से व्यंग्य करते हुए पूछा कि उन्हें कहीं से कुछ भिक्षा मिली या नहीं। बुद्ध को पता चल गया कि मार के कारण ही उन्हें उस दिन भिक्षा नहीं मिली थी। अत: उन्होंने उत्तर दिया, "दुष्ट मार ! तू ही था जिसने ग्रामवासियों को मेरे खिलाफ भड़का दिया था। तूने उन्हें वशीभूत कर लिया था। अत: उन्होंने मुझे भोजन-दान नहीं दिया। क्या यह सही नहीं है ? रे पापी ! तूने ऐसा क्यों किया कि गाँव में मुझे भिक्षा नहीं मिले ?" मार ने बुद्ध के प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। उसने बुद्ध से मजाक करने का विचार किया कि बुद्ध को पुन: ग्राम में प्रवेश करने के लिए उकसाया जाय और इस बार जब ग्रामीणजन उन्हें भोजन नहीं देंगे तो उनकी बेइज्जती हो जायेगी। अत: उसने सुझाव दिया, "श्रमण गौतम ! एक बार फिर गाँव में क्यों नहीं जाते हो ? इस बार तुम्हें अवश्य ही भोजन मिलेगा।" उसने सोचा था कि इस बार जब बुद्ध ग्राम में प्रवेश करेंगे और ग्रामवासी उन्हें भोजन नहीं देंगे तो वह ताली बजाकर उनका मजाक उड़ायेगा।

उसी समय गाँव की महिलायें वहाँ आ गईं और श्रद्धापूर्वक बुद्ध को सादर नमस्कार किया। उनकी उपस्थिति में मार ने व्यंग्य किया ," हे भन्ते ! चूँकि आज तुम्हें भोजन नहीं मिला, तुम्हें तो भूख से पेट में पीड़ा हो रही होगी ?" उसे डाँटते हुए स्वर में बुद्ध ने कहा, "अरे पापी ! आज भिक्षा में मुझे कुछ नहीं मिला तो क्या हुआ ? आज भिक्षा नहीं मिलने पर भी मैं उसी तरह अपना दिन बिता दूँगा जिस तरह ब्रह्मा आभास्वर लोक में प्रीति सुख भोग करते हैं।"





गाथाः जयं वेरं पसवति, दुक्खं सेति पराजितो।
उपसन्तो सुखं सेति, हित्वा जयपराजयं।।201।।

अर्थः जिन हम लोगों के पास कुछ भी नहीं है, हम सुखपूर्वक जीवन जीते रहेंगे। हम आभास्वर देवताओं की तरह, प्रीति ही भोजन है जिनका, प्रीति भक्षण से ही अपना काम चला लेंगे।

जय-पराजय से परे का सुख
कोसल राजा, पसेनदि के हार की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

यह गाथा बुद्ध ने कोसल राजा पसेनदि की उनके अपने ही भाँजे, मगध के राजा अजातशत्रु, से उनकी हार के संदर्भ में कही थी।

कोसल राजा पसेनदि काशिकग्राम के लिए अपने भाँजे, राजगृह नरेश, अजातशत्रु के साथ युद्ध करते हुए तीन बार पराजित हुआ। अजातशत्रु, राजा बिंबिसार और रानी वैदेही, जो कोशलराजा की बहन थी, का पुत्र था। पसेनदि अपने भाँजे से तीन बार हारकर बहुत दुखी था और शर्म से मरा जा रहा था। वह बार-बार अपने आप को इस प्रकार धिक्कारता, "मुझे अपने आप पर धिक्कार है ! मैं इस दूध पीते हुए बच्चे को भी पराजित नहीं कर सका और उससे तीन बार हार गया। मेरे जीवित रहने का क्या लाभ ?" इस प्रकार अति दुखी व चिन्तित होकर उसने भोजन करना छोड़ दिया और खाट पर जा पड़ा।

राजा के मन: स्थिति की खबर पूरे राज्य में आग की तरह फैल गई। बुद्ध को भी इसकी जानकारी मिली। उन्होंने भिक्षु-संघ की बैठक में भिक्षुओं को समझाया, "जीतने वाले के मन में दुश्मनी और घृणा बढ़ती है और हारने वाले के मन में खिन्नता और दुख का सन्ताप बढ़ता है। जीतने वाला जीत तो जाता है पर उस विजय में वैर का सृजन कर लेता है। विजय शत्रुता को जन्म देती है और पराजय, बिना नींद भरी रातें। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह जय-पराजय दोनों से ही ऊपर उठ जाये।"

टिप्पणी: प्रश्न उठता है कि वैसी जीत का क्या महत्त्व जिसमें दुश्मनी के कारण भविष्य में संभावित पराजय का बीज छिपा हो ? जीतने वाला वैर पैदा कर अपने लिए मानसिक अशांति को आमंत्रित करता है। दूसरी ओर हारने वाला आदमी यह सोचता रहता है कि "पता नहीं अपने दुश्मन की पीठ देख पाऊँगा या नहीं।" यह सोचकर सदैव दुःखी और चिंतित रहा करता है। उसकी सोच-समझ, कार्यशैली, उसका दैनिक जीवन सभी कुछ बदल जाता है।

इसके विपरीत जो राग-द्वेष से ऊपर उठ गया है वह जय-पराजय की भावना से भी ऊपर उठ गया है। उसके शरीर की सभी चेष्टाएं सुखपूर्वक चलती हैं और वह सुखपूर्वक जीवन जीता है।





गाथा: नत्थि रागसमो अग्गि, नत्थि दोससमो कलि।
नत्थि खन्धसमा दुक्खा, नत्थि सन्तिपरं सुखं।।202।।

अर्थ: राग के समान अग्नि नहीं, द्वेष के समान कोई पाप नहीं। पंच स्कन्धों में मोह के समान कोई दुख नहीं है और निर्वाण के समान कोई सुख नहीं है।

निर्वाण बिना सुख कहाँ ?
एक नववधू की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

श्रावस्ती में एक दिन एक कन्या के विवाह का आयोजन हुआ। लड़की के माता-पिता ने बुद्ध और उनके शिष्यों को उस अवसर पर भोजनदान के लिए आमंत्रित किया। तथागत भिक्षु संघ के साथ वहाँ पधारे और सभी अपने-अपने आसन पर बैठ गए। भोजन परोसने की प्रक्रिया में वह वधू बार-बार आना जाना कर रही थी। उसका पति वहीं खड़ा था और उसे बहुत ही ध्यानपूर्वक देख रहा था। उसकी सुन्दरता से मोहित हो उसके अन्दर रागाग्नि प्रज्जवलित हो उठी। उसके मन में अनेक काम-राग सम्बन्धी विचार उठने लगे और वह उस वधू को पाने के लिए अंदर से तड़प उठा। उसका मन बेचैन हो गया। अपने अंदर उठे इस राग के तूफान के कारण उसने बुद्ध और भिक्षुसंघ की सेवा नहीं की और अपने ही विचारों में खोया रहा। सेवा-सत्कार, आवभगत में मन लगाने के बजाय उसका मन कहीं और खोया हुआ था। अंततः वही हुआ जो ऐसे अवसर पर नहीं होना चाहिए। अपनी व्यग्रता तथा अविवेक के कारण उसने वधू का हाथ पकड़कर एक तरफ खींचना चाहा। बुद्ध उसकी मनः स्थिति को समझ चुके थे। अतः उन्होंने ऐसा चमत्कार किया कि वह वधू लोगों की सेवा तो करती रही पर उस युवक की दृष्टि से ओझल हो गई। थोड़ी देर बाद उसका पति थककर एक तरफ बैठ गया। तब बुद्ध ने उस युवक को बुलाकर समझाया, "कुमार ! रागाग्नि के समान कोई तीव्र अग्नि नहीं है, द्वेष के समान कोई अपराध(पाप) नहीं है। क्रोध और घृणा के समान कोई मल नहीं है; शरीर के अस्तित्व के इन पाँच स्कन्धों को ढोने के समान जीवन में कोई दुःख नहीं है और अनुपम, शान्त, निर्वाण के समान कोई सुख नहीं है।"

इस प्रवचन के बाद दोनों पति-पत्नी श्रोतापन्न हो गए। बुद्ध ने अपना प्रभाव भी हटा लिया और वे एक दूसरे को देखने लगे।





गाथा: जिघच्छापरमा रोगा, सङ्खारपरमा दुखा।
एवं ञत्वा यथाभूतं, निब्बानं परमं सुखं।।203।।

अर्थ: भूख सबसे बड़ा रोग है। रूप, वेदना आदि संस्कार सबसे बड़े दुख हैं। इस सत्य को यथार्थ रूप में (जैसा है) समझ लेने से यही निष्कर्ष निकलता है कि निर्वाण से बढ़कर कोई सुख नहीं है।

रोग-दुख से मुक्त हो अमृत-सुख कैसे पायें ?
किसी उपासक की कथा

स्थान : आलवी

यह गाथा बुद्ध ने आलवी नगर में एक उपासक के संबंध में कही थी।

एक दिन बुद्ध ने अंतर्दृष्टि से देखा कि आलवी नगर का एक उपासक स्रोतापन्न प्राप्त करने के लिए परिपक्व है। अतः वे आलवी गाँव गए, जो श्रावस्ती से तीस योजन दूर पड़ता था। संयोग से उसी दिन उस किसान का बैल खो गया। अतः उसे उस बैल को खोजने के लिए जहाँ-तहाँ जाना पड़ा। इस बीच आलवी ग्राम में बुद्ध और उनके शिष्यों को भोजन-दान दिया गया। भोजन के बाद, लोग बुद्ध के प्रवचन की प्रतीक्षा करने लगे, लेकिन बुद्ध उस नवयुवक की प्रतीक्षा करते रहे। अंततः अपने बैल को खोजकर वह आदमी दौड़ता-दौड़ता वहाँ पहुँचा जहाँ शास्ता विराजमान थे। वह किसान थक गया था और भूखा भी था। अतः बुद्ध ने आयोजकों से आग्रह किया कि वे उस किसान को भोजन करा दें। जब उस किसान ने भोजन कर लिया तब बुद्ध ने पुण्यानुमोदन शुरू किया। उन्होंने धर्म के विषय में थोड़ा-थोड़ा करके बताना शुरू किया और अंततः चार आर्य सत्य का प्रतिपादन किया। उनके प्रवचन के अन्त में वह किसान स्रोतापन्न हो गया।

बाद में बुद्ध और शिष्यगण जेतवन विहार लौट आए। रास्ते में भिक्षुगण चर्चा कर रहे थे कि तथागत की कृपा देखो कि बुद्ध ने पहले उस किसान को भोजन कराया और उसके बाद ही प्रवचन देना प्रारंभ किया। उनकी टिप्पणी सुनकर तथागत ने कहा, भिक्षुगण ! जो तुम कह रहे हो वह सत्य है। लेकिन तुम्हें यह नहीं मालूम कि मैं तीस योजन दूर से उसी किसान के लिए आया हूँ क्योंकि मुझे यह दिख गया था कि वह स्रोतापन्न प्राप्त करने की स्थिति में है। वह किसान सुबह से ही अपने खोये हुए बैल की तलाश कर रहा था। बहुत थक गया था तथा भूखा भी था। अगर वह भूखा ही रहता तो भूख की पीड़ा उसे धर्म-प्रवचन से वंचित कर देती। उसका ध्यान उसमें पूरी तरह नहीं लगता। भिक्षुओं ! भूख से बढ़कर कोई बीमारी नहीं है।"

टिप्पणीः सामान्य रोग एक बार चिकित्सा कर देने से ठीक हो जाता है। वह समूल समाप्त हो जाता है या दब जाता है पर भूख का रोग ऐसा नहीं है। भूख का रोग अन्य सामान्य रोगों की तरह नहीं है। एक बार भोजन करने पर भूख का रोग उस समय के लिए ठीक हो जाता है पर समय के अंतराल पर वह रोग पुनः प्रकट हो जाता है अर्थात् निश्चित अन्तराल के बाद उस रोग-भूख की पुनरावृत्ति हो जाती है। इसलिए भूख को सबसे कठिन रोग कहा गया है

जैसे भौतिक शरीर में भूख सबसे बड़ी बीमारी है उसी प्रकार आन्तरिक शरीर में स्कन्धों के ममत्व के समान कोई दुःख नहीं है। इस बात को जानकर समझदार लोग इनसे ऊपर उठकर निर्वाण की दिशा में अपना मन लगाकर अंततः निर्वाण को प्राप्त करते हैं।





गाथा : आरोग्यपरमा लाभा,सन्तुट्ठिपरमं धनं ।
विस्सासपरमा ञाति, निब्बानं परमं सुखं।।204।।

अर्थ : निरोग रहना सबसे बड़ा लाभ है। सन्तोष सर्वोत्कृष्ट धन है। विश्वास सबसे बड़ा सम्बन्धी है तथा निर्वाण सर्वोत्कृष्ट सुख है।

क्या है सर्वश्रेष्ठ ?
राजा पसेनदि की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

बुद्ध ने यह गाथा राजा पसेनदि के संदर्भ में कही थी।

अपने जीवन के प्रारंभिक काल में राजा पसेनदि काफी मात्रा में चावल और उतनी ही मात्रा में दाल और सब्जी खाया करता था। एक दिन सुबह-सुबह उसने इसी प्रकार का गरिष्ठ भोजन किया और अधिक खाने के कारण निद्रा की स्थिति को प्राप्त करने लगा। वह बुद्ध के यहाँ पहुँचा और थका हुआ सा, ऊँघता हुआ बैठ गया। उसकी तीव्र इच्छा थी कि वह वहीं सो जाए लेकिन वह वैसा नहीं कर सका। तब बुद्ध ने उससे कहा, "राजन ! क्या विश्राम करके नहीं आए हो ?" "नहीं श्रीमन् ! मुझे अक्सर भोजन करने के बाद पीड़ा होती है।" तब बुद्ध ने उससे कहा, "राजन ! अत्यधिक भोजन करने से इस प्रकार की पीड़ा होती है।" ऐसा कहते हुए बुद्ध ने समझाया, "जब मनुष्य तन्द्रा के अधीन हो जाता है, पेटू हो जाता है, अधिक खाने लगता है और इस कारण अधिक सोने लगता है, कष्ट के कारण करवटें बदलता रहता है

तब ऐसा मनुष्य खाये-पीये सूअर की तरह मोटा हो जाता है और संसार में बार-बार जन्म लेता रहता है।

राजन ! भोजन सदैव उचित मात्रा में ही करना चाहिए। वही जीवन के लिए उपयोगी और सुखद होता है।" तथागत ने और भी समझाया, "जो व्यक्ति सदा स्मृतिमान रहकर, भोजन की सही मात्रा जानकर सीमित ढंग से भोजन करता है उसका कष्ट कम होता जाता है और ऐसा करने से उस व्यक्ति की आयु लगातार बढ़ती जाती है।"

चेष्टा करने पर भी राजा इस गाथा को याद नहीं कर पाया। तब बुद्ध ने राजा के भाँजे, राजकुमार सुदासन, जो पास ही खड़ा था, को इस गाथा को याद कर लेने के लिए कहा। सुदासन ने बुद्ध से पूछा, "भन्ते, इस गाथा को याद करके मैं क्या करूँगा ?" तथागत ने कहा, "जब राजा भोजन कर रहे हों और अपने भोजन का अंतिम कौर लेने वाले हों तब यह गाथा सुना देना। राजा इस गाथा को सुनाने का उद्देश्य समझ जायेंगे और तुरंत वह अंतिम कौर फेंक देंगे। जब अगली बार राजा के लिए भोजन बनाने के लिए चावल लाया जाये तो तुम कम चावल देना।" "जो आज्ञा, भन्ते", सुदासन ने उत्तर दिया। इस प्रकार जब भी राजा सुबह-शाम भोजन करने जाता और अंतिम कौर लेता तो उसका भाँजा यह गाथा सुनाता और अगली बार भोजन के लिए कम चावल देता। इस प्रकार राजा संतोषपूर्वक भोजन करने लगा। कुछ समय बाद वह पतला हो गया और प्रसन्न रहने लगा। एक दिन राजा शास्ता को श्रद्धा-सुमन भेंट करने गया और उन्हें साष्टांग प्रणाम कर कहा, "भन्ते, मैं अब प्रसन्न हूँ, अब तो मैं दौड़ते हुए मृग भी पकड़ सकता हूँ। पहले मेरे अपने भाँजे से मेरी लड़ाई होती थी लेकिन अभी हाल ही में अपनी बेटी, वज्रा, का उससे विवाह कर दिया है और उन्हें काशिक नाम का ग्राम भी दे दिया है। साथ ही राजमहल का एक मणिरत्न खो गया था, वह भी मिल गया है। आपके श्रावकों का विश्वास जीतने के लिए आपके रिश्तेदारों की पुत्री अपने घर ले आया हूँ। इन सभी कारणों से मैं अति प्रसन्न हूँ।"

तब शाक्य मुनि ने समझाया, "मनुष्य के लिए अच्छा स्वास्थ्य ही सबसे बड़ी उपलब्धि है। जो कुछ भी जीवन से प्राप्त हुआ है उससे संतोष करना सबसे बड़ा धन है। विश्वास हमारा सबसे बड़ा बंधु है। लेकिन निर्वाण के समान कोई सुख नहीं है अर्थात् निर्वाण सबसे बड़ा सुख है।"





गाथा: पविवेकरसं पीत्वा, रसं उपसमस्स च।
निद्दरो होति निप्पापा, धम्मपीतिरसं पिवं।।205।।

अर्थ: एकान्त चिंतन और शांति के रस को पीकर धर्म के प्रीति रस का पान करता हुआ साधक भय और पाप से मुक्त हो जाता है।

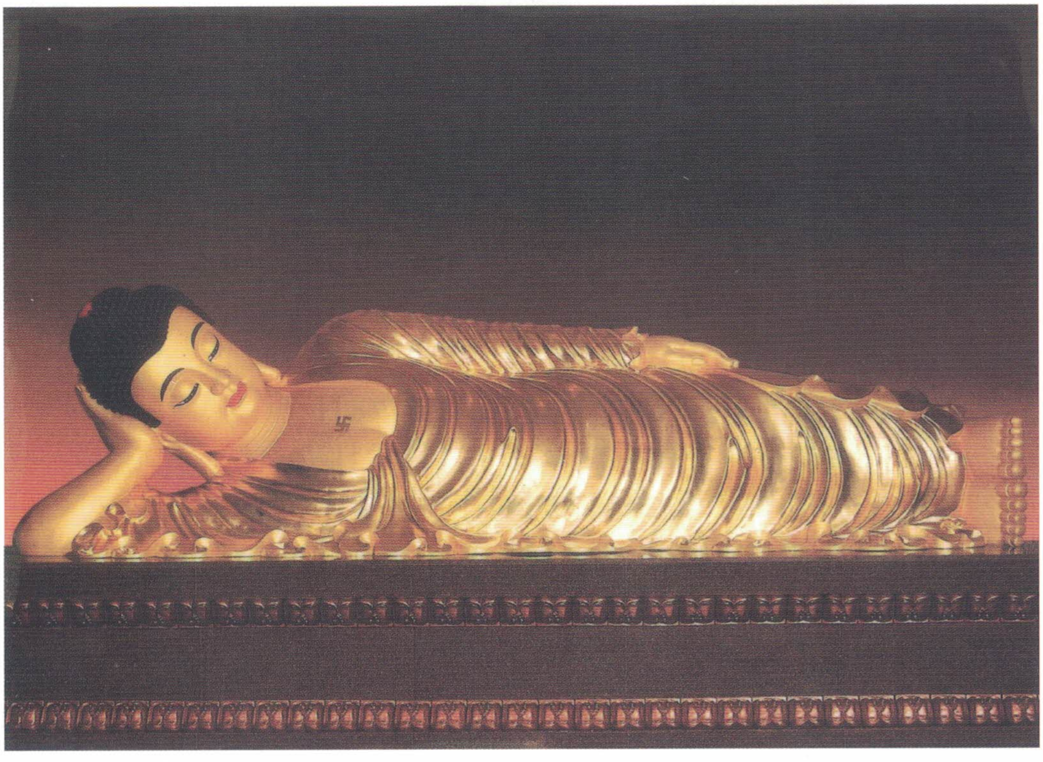
धर्म रस-पान कर सुखी रहें
स्थविर तिस्स की कथा

स्थान : वैशाली

बुद्ध ने यह गाथा स्थविर तिस्स के संदर्भ में कही थी।

जब बुद्ध ने घोषणा की कि वे चार महीनों में महापरिनिर्वाण प्राप्त करेंगे तो संसार से अभी भी आसक्त बहुत सारे शिष्य दुःखी हो गए।

यह जानकर कि बुद्ध चार महीनों में शरीर त्याग देंगे, अनेक शिष्य उनके आस-पास रहने लगे। क्षीणास्रव एवं अर्हत भिक्षुओं के मन में धर्म के प्रति संवेग हुआ। भिक्षुगण विभिन्न समूहों में बँट गए तथा तरह-तरह की मंत्रणा करने लगे। तिस्स नाम के एक भिक्षु ने भी बुद्ध के महापरिनिर्वाण की खबर सुनी। तब उसने अपने आप से सोचा, "तथागत सिर्फ चार मास की अवधि में ही महापरिनिर्वाण प्राप्त कर जायेंगे पर मैं अभी भी राग से पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाया हूँ। मुझे ऐसी साधना करनी चाहिए कि उनके शरीर त्यागने से पूर्व ही अर्हत्व प्राप्त कर लूँ।" तिस्स बुद्ध के आस-पास न रहकर एकान्त जगह पर चला गया और खड़े रहकर, चलकर, उठकर, बैठकर सभी परिस्थितियों में विपश्यना साधना का अभ्यास करने लगा और अपने ऊपर पूर्ण संयम एवं नियन्त्रण रखने लगा। नौसिखिये शिष्यों को उसका यह व्यवहार कुछ अटपटा सा लगा और उन्होंने तिस्स से पूछा, "तिस्स, तुम ऐसा क्यों कर रहे हो ? शास्ता में अपनी श्रद्धा और सम्मान क्यों नहीं दिखा रहे हो ?" पर तिस्स उनके प्रश्नों का उत्तर नहीं देता और अपनी साधना में लगा रहता। उसके इस व्यवहार से नाराज होकर भिक्षुगण शास्ता के पास गये और उन्हें बताया कि भिक्षु तिस्स आपके प्रति सम्मान भाव नहीं रखता है। शास्ता ने तिस्स को बुलाकर उसे अपना व्यवहार स्पष्ट करने को कहा। तिस्स ने अपनी मनोकामना बताई जिसे सुनकर शाक्यमुनि अति प्रसन्न हुए तथा अनेक प्रकार से उसे साधुवाद दिया। उन्होंने भिक्षुओं के समूह को भी समझाया, "भिक्षुगण ! जो मुझमें प्रेम और सच्ची श्रद्धा रखते हैं उन्हें तिस्स के समान होना चाहिए। मुझे पुष्प, माला, इत्र और अगरबत्ती अर्पित कर तुम मेरी शिक्षा का अनुपालन नहीं करते हो । इनसे की गई पूजा-अर्चना का कोई महत्त्व नहीं है। इसके विपरीत अगर कोई साधक मेरे द्वारा बताये मार्ग पर चलता है और धर्म साधना करता है तो वही मुझमें सच्ची श्रद्धा प्रकट करता है।" इस देशना के अंत में तिस्स स्थविर अर्हत्व को प्राप्त हो गए ।





गाथा: साहु दस्सनमरियानं, सन्निवासो सदा सुखो।
अदस्सनेन बालानं, निच्चमेव सुखी सिया।।206।।

अर्थ : सन्त जनों का दर्शन हितकारी होता है । उनके साथ रहना मंगलमय, आनन्ददायी होता है । इसके विपरीत दुर्जनों एवं मूर्खों का दर्शन ही आनन्ददायक होता है ।

सही सन्तों का दर्शन सबसे सुखदायक है
शक्र की कथा

स्थान : वेणुग्राम

इन तीन गाथाओं को बुद्ध ने देवताओं के राजा शक्र के संदर्भ में कही थी ।

जब बुद्ध के पार्थिव शरीर के अंत का समय आ रहा था और वे रक्तस्राव से पीड़ित थे, देवताओं के राजा इन्द्र को इस बारे में पता चला और उसने अपने आप से सोचा, "मेरा कर्त्तव्य बनता है कि मैं बुद्ध के पास जाऊँ और उनकी बीमारी में उनकी सेवा-सुश्रूषा करूँ ।" ऐसा सोच उसने अपने शरीर का स्वरूप बदल दिया और तथागत के पास जाकर उनके चरणों को हाथों से दबाने लगा । तब शाक्य-मुनि ने पूछा, "कौन है?" उत्तर मिला, "भन्ते, मैं शक्र हूँ।" "यहाँ किस उद्देश्य से आए हो?" "भन्ते ! आपकी बीमारी में आपकी सेवा करने।" "शक्र ! देवताओं को मनुष्यों की गंध सड़े, गले माँस की तरह लगती है । सौ योजन की दूरी से भी देखने में लगता है जैसे गले में कोई गला-सड़ा मृत शरीर बाँध दिया गया है, अतः तुम जाओ । मेरी सेवा करने के लिए बहुत सारे भिक्षु विद्यमान हैं।" "भन्ते ! मैंने चौरासी हजार योजन की दूरी से आपके शील की गंध को महसूस किया है और उसी से प्रभावित होकर चला आ रहा हूँ । मेरे वापस जाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता । मैं तो आपकी सेवा करूँगा ही," ऐसा कहकर शक्र शास्ता की सेवा में तन-मन से जुट गया । वह शास्ता के मलपात्र को किसी को छूने नहीं देता और अपने सर पर रखकर बाहर फेंक आता था, ऐसा करते समय भी उसके चेहरे पर मुस्कान दिखती थी । उसे लगता था कि जैसे वह सुगन्धित फूलों की टोकरी लेकर जा रहा हो । इस प्रकार वह तथागत की सेवा तब तक करता रहा जबतक वे पूर्णतः स्वस्थ न हो गए । जब वे पूर्णतः स्वस्थ हो गए तब इन्द्र देवलोक लौट गया ।





गाथा: बालसङ्गतचारी हि, दीघमद्धान सोचति।
दुक्खो बालेहि संवासो, अमित्तेनेव सब्बदा।
धीरो च सुखसंवासो, ञातीनंव समागमो।।207।।

अर्थ : मूर्ख जनों के संग रहने वाला पुरुष समय के अंतराल में दुःख ही दुःख पायेगा । मूर्खों के साथ रहना शत्रुओं के साथ रहने जैसा है । यह और भी अधिक कष्टप्रद, दुखदायी होता है । इसके विपरीत सज्जन पुरुष का समागम वैसा ही अति सुखदायी होता है जैसे अपने किसी प्रियजन के साथ रहना ।

पापी जनों से दूर रहें; संतों का सत्संग करें
शक्र की कथा

भिक्षुगण ने एक दिन धर्मसभा में चर्चा कर दी, "धन्य था इन्द्र का शास्ता में प्रेम ! उसने अपनी दिव्य सम्पत्ति को छोड़ा और बुद्ध की सेवा में लग गया पर उसके चेहरे पर जरा भी उदासी न दिखी। वह उनका मलपात्र भी उठाकर ऐसा प्रसन्न चलता था मानो सुगंधित पुष्पों की टोकरी लेकर जा रहा हो ।" शाक्य-मुनि ने भिक्षुओं की चर्चा सुनकर कहा, "क्या कह रहे हो भिक्षुओं ? यूँ ही, अकारण, शक्र का मुझमें प्रेम नहीं है । कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि शक्र का मुझमें प्रेम है। यह देवराज, मुझ में स्नेह के कारण ही, वृद्ध शक्र से युवा शक्र में परिणत होकर स्रोतापन्न हो चुका है । उसने अपना पुराना शरीर त्याग दिया है और उसे तरूण शरीर प्राप्त हुआ है । एक बार वह मृत्यु के भय से अति भयभीत हुआ पञ्चशिख गन्धर्वदेव को आगे कर उसके साथ इन्द्रशाल गुफा में देवताओं के समूह के सम्मुख आया था।





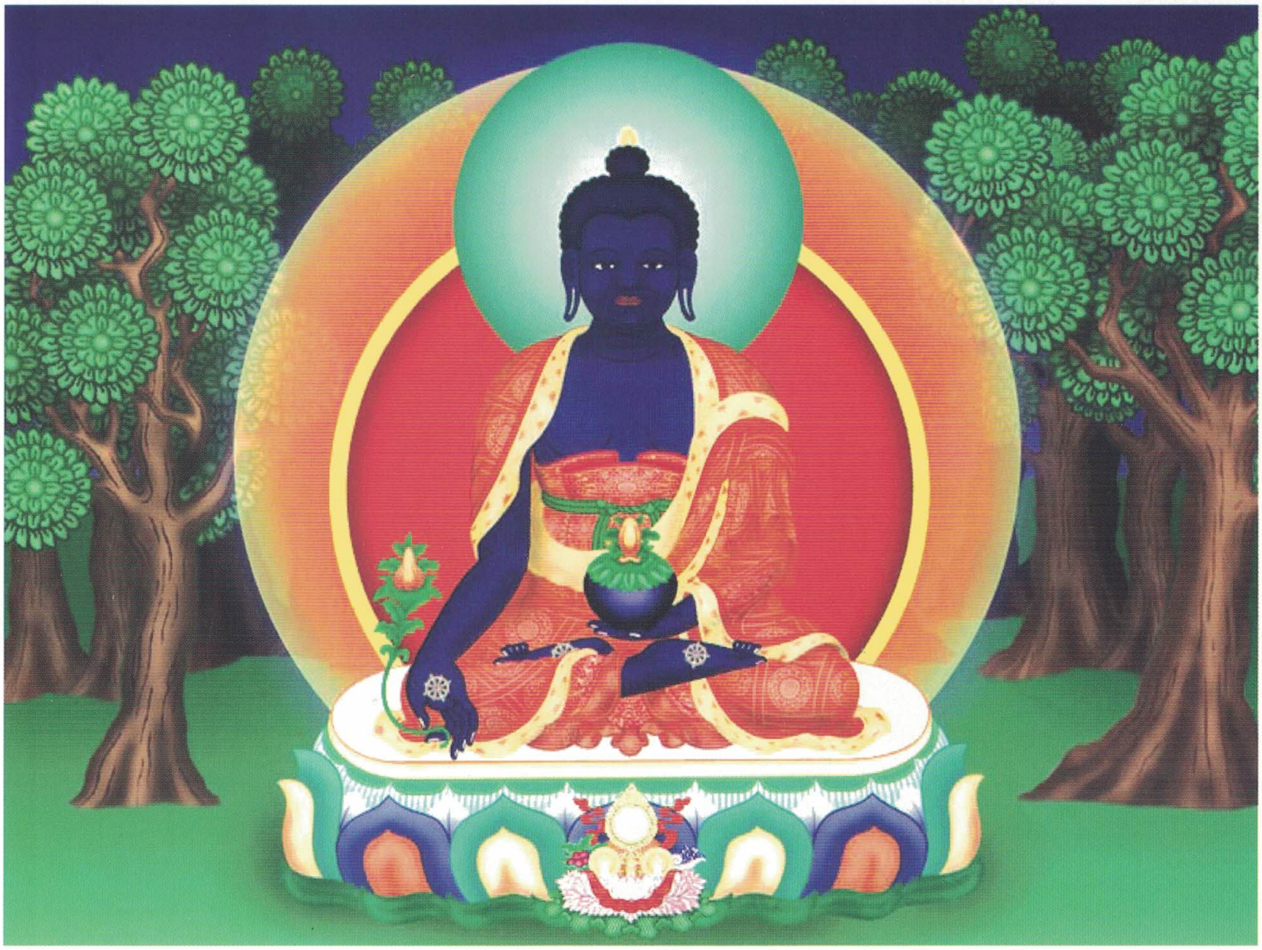
गाथा: तस्मा हि धीरञ्च पञ्ञञ्च बहुस्सुतञ्च, धोरय्हसीलं वतवन्तमरियं।
तं तादिसं सप्पुरिसं सुमेधं, भजेथ नक्खत्तपथंव चन्दिमा।।208।।

अर्थ: चन्द्रमा शुद्ध निर्मल आकाश में नक्षत्रों के साथ अच्छा लगता है। उसी प्रकार मनुष्य को धैर्यशाली, प्रज्ञावान, विद्वान, कर्मयोगी, आर्य एवं मेधावी पुरुष का समागम कर आनन्द की अनुभूति करनी चाहिए ।

चाँद के पीछे तारे, संतों के पीछे चरण हमारे
शक्र की कथा

तब मैंने उसके भय को दूर किया था और शक्र से कहा था - देवेन्द्र ! तुम्हारे मन में जो भी प्रश्न करने की इच्छा हो उसे कर लो । मैं तुम्हारे मन की सारी शंकाओं का समाधान कर दूँगा और तुम्हारे हृदय में विद्यमान हर संदेह को दूर कर दूँगा।" यह कहकर मैंने उसकी सारी शंकाओं का समाधान कर दिया था और धर्मचर्या द्वारा उसके सारे दु:खों को दूर कर दिया था । उस देशना के फलस्वरूप असंख्य लोगों को धर्म की जानकारी हुई थी और अंततः धर्म में उनकी प्रीति हो गई थी । और उधर शक्र, वहीं बैठा हुआ, धर्मचर्या सुनकर, स्रोतापन्न होकर वृद्ध शक्र से तरूण शक्र में परिणत हो गया । इस प्रकार मैंने उसे कई बार समय-समय पर उपदेश दिया है और उसकी शंकाओं का समाधान किया है । अगर मेरे इस प्रकार बार-बार मदद करने से उसके हृदय में मेरे प्रति प्रीति, श्रद्धाभाव और लगन से सेवा करने की तीव्र इच्छा पैदा होती है तो इसमें आश्चर्य क्या है ? भिक्षुगण ! सद्पुरूषों का संग अति सुखकर होता है । उनके साथ रहने में सुख की अनुभूति होती है । ऐसे पुरूषों के साथ रहने का, समय बिताने का अवसर मिले तो अथाह आनन्द प्राप्त होता है । इसके विपरीत मूर्खों का दर्शन और उनका साथ दुखदायक होता है ।

इस प्रकार समझाते हुए बुद्ध ने तीन गाथाएँ कहीं।



DHAMMAPADA

SUKHA VAGGA



आसक्ति की जाल

धम्मपद

प्रिय वर्ग

गाथा और कथा



आसक्ति की जाल

धम्मपद

प्रिय वर्ग

गाथा और कथा

संस्कारक
हृषीकेश शरण

विषय सूची

प्रिय वर्ग



गाथा: अयोगे युञ्जमत्तानं, योगस्मिञ्च अयोजयं।
अत्थं हित्वा पियग्गाही, पिहेतत्तानुयोगिनं।।209।।

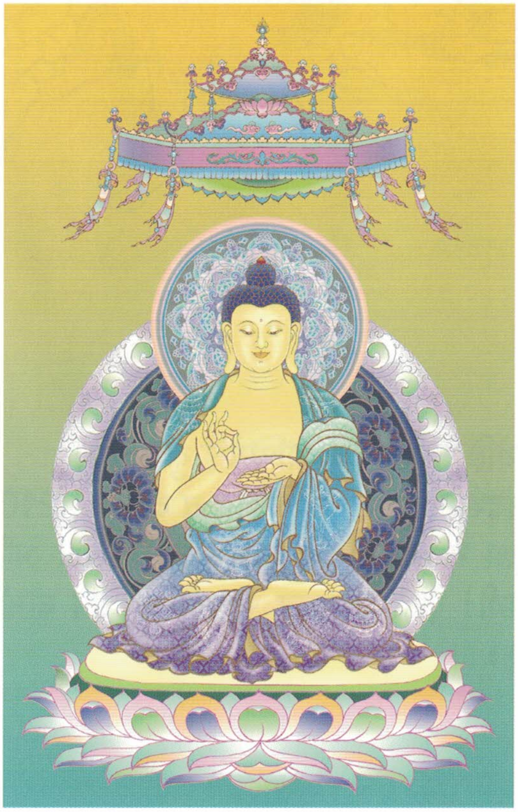
अर्थ: अपने को उचित कर्म में नही लगाता है वरन् अनुचित में लगाता है; परमार्थ को छोड़कर प्रिय विषयों की प्राप्ति में ही लगा रहता है; ऐसा व्यक्ति सद्मार्ग पर चलने वाले व्यक्तियों के साथ ईर्ष्या करता है।

आत्म-अन्वेषी की प्रशंसा
तीन भिक्षुओं (माता-पिता-पुत्र) की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

श्रावस्ती के एक परिवार में माता-पिता की एकलौती संतान थी - उनका पुत्र,जो उन्हें बहुत प्रिय था। एक दिन कुछ भिक्षुओं को उनके घर पर भोजन-दान के लिए आमंत्रित किया गया। भोजन-दान के बाद उन्होंने धर्म-प्रविचय कराया। जैसे-जैसे बालक ने धर्म की बात सुनी, उसकी प्रव्रज्या लेने की इच्छा तीव्र हो उठी। उसने तत्काल अपने माता-पिता से भिक्षुसंघ में शामिल होने की अनुमति माँगी, उन्होंने इसकी अनुमति नहीं दी। तब उसके मन में विचार आया, "मेरे माता-पिता स्वेच्छा से मुझे प्रव्रज्या की अनुमति नहीं देंगे।अतः इनकी अनुमति के बिना ही मैं प्रव्रज्या क्यों नहीं ग्रहण कर लूँ ? जब मेरे माता-पिता घर में नहीं होंगे, तब मैं घर छोड़कर चला जाऊँगा और प्रव्रज्या ग्रहण कर लूँगा।"

माता-पिता भी अपने पुत्र के मन को भांप गए। अतः उन्होंने हर कीमत पर अपने पुत्र की निगरानी करने का विचार किया। जब कभी पिता घर छोड़कर बाहर जाता, वह अपनी पत्नी को ताकीद देकर जाता कि उसके वापस आने तक पुत्र का ध्यान रखे कि कहीं वह घर छोड़कर चला न जाए। इसी प्रकार जब कभी माता घर से बाहर जाती, तो वह अपने पति को जिम्मेदारी देकर जाती कि वह पुत्र का ध्यान रखे। इस प्रकार समय बीतता गया। एक दिन जब पिता घर के बाहर गया हुआ था, माँ ने अपने आप से कहा, "मैं निश्चय ही अपने पुत्र को बाँधकर रखूँगी और उसे जाने नहीं दूँगी।" ऐसा सोचकर वह एक पैर दरवाजे के बाहर तथा एक पैर चौखट पर पसार कर बैठ गई और चरखे पर सूत कातने लगी। लड़के को लगा कि घर से भागने का यह अच्छा अवसर है। उसने सोचा, "मैं अपनी माँ को झाँसा देकर भाग जाऊँगा।" इसलिए उसने माँ से कहा, "प्यारी माँ, तुम अपना पैर जरा सा खिसका लो; मैं शौच होकर आता हूँ। उसने अपना पैर खिसका लिया और वह बाहर निकल गया। वह दौड़ा, जोर से दौड़ा और दौड़ते-दौड़ते बौद्ध विहार पहुँच गया। वहाँ पहुँचकर बौद्ध भिक्षुओं से आग्रह किया, "भन्ते ! मुझे भी संघ में शामिल कर लें।" भिक्षुओं ने उसका आग्रह स्वीकार कर लिया और उसे संघ में शामिल कर लिया।





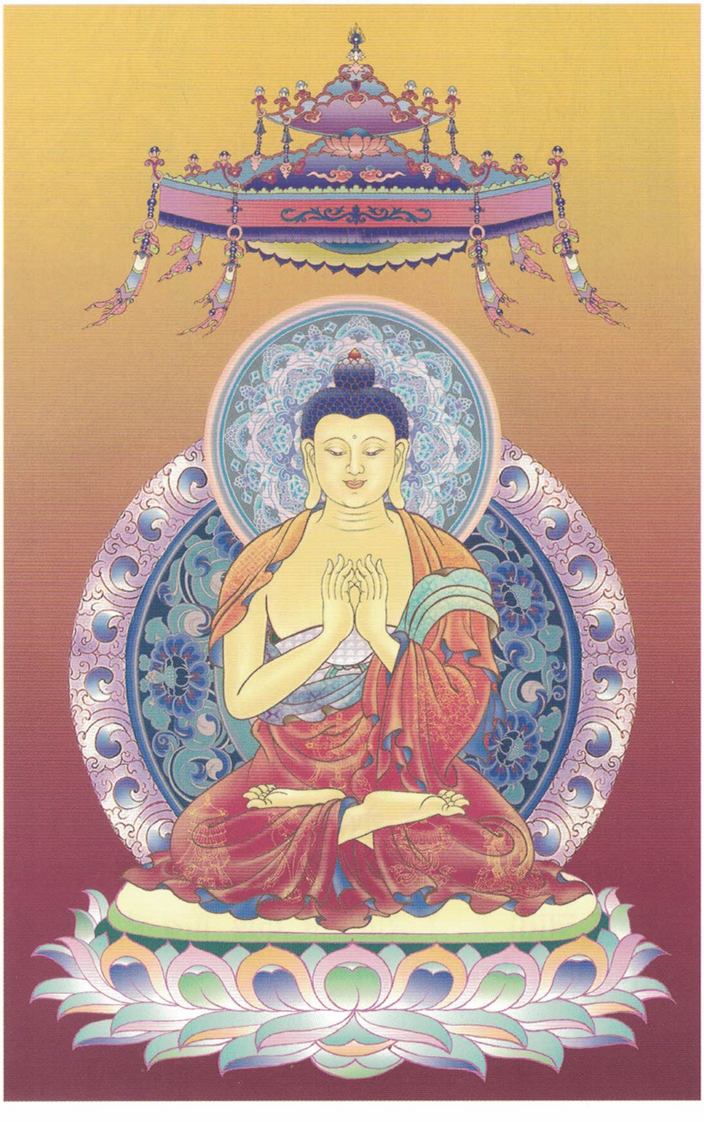
गाथा: मा पियेहि समागञ्छि, अप्पियेहि कुदाचनं।
पियानदस्सनं दुक्खं, अप्पियानं च दस्सनं।।210।।

अर्थ: प्रिय का न देखना दुखदायी होता है और अप्रिय का देखना दुखदायी। ऐसा सोचकर साधक को इन दोनों से दूर रहना चाहिए।

प्रिय का बिछड़ना और अप्रिय से मिलन
तीन भिक्षुओं (माता-पिता-पुत्र) की कथा

जब पिता घर लौटा, तो उसने पत्नी से पूछा, "मेरा पुत्र कहाँ है ?" "पतिदेव, अभी-अभी तो यहीं था।" "मेरा पुत्र कहाँ हो सकता है ?" पिता ने इधर-उधर देखते हुए सोचा। उसे इधर-उधर न पाकर, वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा, "निश्चय ही वह बौद्ध-विहार चला गया होगा।" इसलिए पिता विहार चला गया और अपने पुत्र को एक भिक्षु के वस्त्रों में देखकर फूट-फूट कर रोने लगा, पश्चाताप करने लगा और पुत्र से कहा, "प्यारे पुत्र, तुम क्यों हमारा नाश करने पर तुले हुए हो ?" लेकिन उसी क्षण उसके मन में यह विचार आया, "अब जब मेरा पुत्र भिक्षु हो गया है, मैं आगे एक गृहस्थ का जीवन क्यों जीऊँ ?" ऐसा सोचकर उसने भिक्षुओं से स्वयं को संघ में प्रव्रजित करने की प्रार्थना की और तत्काल भिक्षु संघ में शामिल हो गृहस्थ जीवन से अलग हो गया।

उधर लड़के की माँ सोचने लगी, "मेरे पुत्र और पति आने में इतना विलंब क्यों कर रहे हैं ?" इधर-उधर देखते हुए उसे तत्काल कौंधा, "निश्चय ही वे दोनों विहार गए हैं और प्रव्रज्या ग्रहण कर लिया है।" इसलिए वह विहार गई और अपने पति और पुत्र को भिक्षुओं के वस्त्र में देखकर सोचा, "जब मेरे पुत्र और पति दोनों ही संन्यासी बन गये हैं तब मेरा गृहस्थ बने रहने का क्या प्रयोजन ?" अतः वह स्वतः ही भिक्षुणियों के समूह में गई और वहाँ जाकर प्रव्रजित हो गई और संसार का त्याग कर दिया।





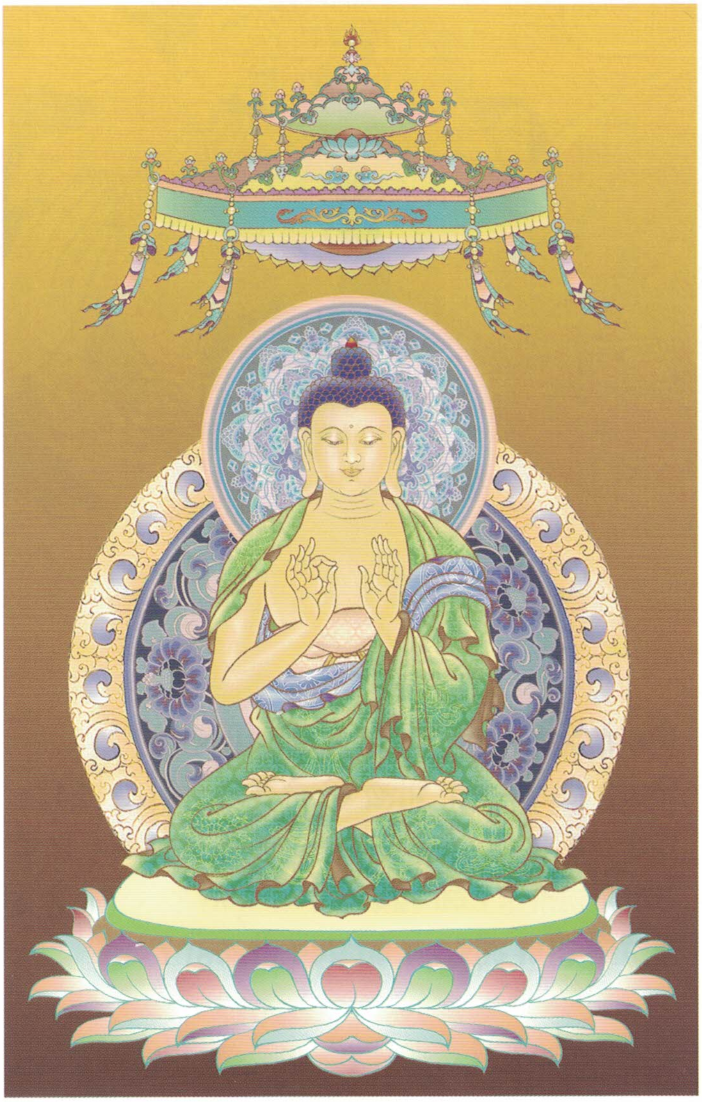
गाथा: तस्मा पियं न कयिराथ, पियापायो हि पापको।
गन्था तेसं न विज्जन्ति, येसं नत्थि पियाप्पियं।।211।।

अर्थ: किसी को प्रिय न बनावें क्योंकि कभी न कभी प्रिय का वियोग दुख दे जाता है। जिसका न कोई प्रिय है और न अप्रिय, उसका कोई बंधन नहीं है।

प्रिय-अप्रिय दोनों से परे
तीन भिक्षुओं (माता-पिता-पुत्र) की कथा

यद्यपि तीनों (माता-पिता-पुत्र) ने संसार का त्याग कर दिया था पर तीनों सांसारिक की तरह ही रहने लगे। पहले तो कुछ दिनों तक संघ के नियमों का अनुपालन किया पर उसके बाद संघ की मर्यादा भंग करने लगे। वे एक दूसरे से अलग नहीं रहते थे। विहार में वे तीनों एक साथ बैठ जाते थे तथा घंटों बातचीत करते हुए समय निकाल देते थे। साधना-ध्यान का प्रश्न ही नहीं था। तब भिक्षुगण बुद्ध के पास गए और उन्हें बताया कि क्या हो रहा है। बुद्ध ने उन्हें बुलाया और उनसे पूछा, "क्या यह सही है कि तुम लोग संघ के नियमों का उल्लंघन कर विहार में रह रहे हो ?" उन्होंने कहा-हाँ। तब बुद्ध ने समझाया, "तुम लोग ऐसा क्यों कर रहे हो ? भिक्षु और भिक्षुणी को इस प्रकार का व्यवहार नहीं करना चाहिए।" "लेकिन हम लोगों के लिए अलग रहना असंभव है।"

तब तथागत ने उन्हें स्पष्ट करते हुए समझाया,"संसार से संन्यास लेने के बाद इस प्रकार का व्यवहार पूर्णतः वर्जित है। प्रियजनों का दर्शन न होना निश्चय ही दुख का कारण होता है और अप्रिय जनों का दर्शन होना भी दुःख का कारण होता है। इस कारण, प्राणियों या सांसारिक वस्तुओं दोनों में से किसी के भी प्रति आसक्ति नहीं आने देना चाहिए; भिक्षुओं को प्रिय और अप्रिय दोनों से ही ऊपर उठ जाना चाहिए।"





गाथा: पियतो जायती सोको, पियतो जायती भयं।
पियतो विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं।।212।।

अर्थ: प्रिय जन से ही शोक उत्पन्न होता है, प्रिय जन से ही भय भी उत्पन्न होता है। जो प्रिय जन से मुक्त हो जाता है उसे शोक कहाँ से होगा और भय का प्रश्न ही कहाँ ?

आसक्ति से भय और शोक उत्पन्न होता है
एक धनी गृहस्थ की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

एक धनी गृहस्थ के पुत्र की मृत्यु हो गई। उस दु:ख से वह इतना व्यथित हुआ कि वह प्रतिदिन श्मशान जाकर घंटों रोया करता था, क्योंकि अपने दु:ख से ऊपर उठ नहीं पा रहा था। एक दिन बुद्ध ने प्रात: काल अपनी अन्तर्दृष्टि में पाया कि वह गृहस्थ स्रोतापन्न प्राप्त करने की स्थिति में है। अत: अपने दैनिक भिक्षाटन से वापस आने के बाद एक भिक्षु को साथ लेकर बुद्ध उस गृहस्थ के दरवाजे पर पहुँच गए। जब उस आदमी ने सुना कि बुद्ध उसके घर आए हैं तो उसने सोचा, "संभवत: शास्ता मुझसे मेरा स्वास्थ्य आदि पूछने तथा मैत्री भाव दिखाने पधारे हैं।" इसलिए उसने बुद्ध को अपने घर में आमंत्रित किया और बैठने के लिए आसन दिया। जब बुद्ध उस आसन पर विराजमान हो गए तब वह उनके पास आकर एक बार पुन: प्रणाम कर; एक तरफ ससम्मान बैठ गया। तब बुद्ध ने उससे पूछा, "उपासक ! तुम इतने दु:खी क्यों हो ?" "मेरे पुत्र की मृत्यु हो गई है; अत: मैं उदास हूँ," उसने उत्तर दिया। बुद्ध ने समझाया, "उपासक ! मन को दु:खी मत होने दो। जिसे हम मृत्यु कहते हैं वह किसी व्यक्ति विशेष के पास नहीं आती, वरन् सभी प्राणियों के पास आती है। जिन्होंने शरीर धारण किया है उनमें से कोई भी शाश्वत नहीं है। इसलिए आदमी को दु:खी नहीं होना चाहिए, वरन् मृत्यु को उसकी पृष्ठभूमि में, उसी के दृष्टिकोण से देखना चाहिए। कहा भी गया है - जो मरणशील था वह मर गया, जो नाशवान् था वह नष्ट हो गया। इस उक्ति पर चिंतन, मनन करना चाहिए।"

"पुराने काल में विद्वान लोग पुत्र की मृत्यु पर शोक नहीं करते थे, वरन् मृत्यु के ऊपर सतत् चिंतन, मनन करते थे और अपने आप को समझाते थे, मरण स्वभाव वाला मृत्यु को प्राप्त हुआ, नष्ट होने वाला नष्ट हो गया, अब मुझे मात्र मरणस्मृति की भावना करनी चाहिए। पुराने जमाने में, जो पुत्रशोक आज तुम कर रहे हो, ऐसा लोग नहीं करते थे। तुमने अपना काम-धंधा बंद कर दिया है और अपना समय केवल रोते-धोते बिताते हो। भूतकाल के विद्वान ऐसा नहीं करते थे। इसके विपरीत वे मरण-भावना का ध्यान करते थे, शोकग्रस्त नहीं होते थे, सामान्य रूप से भोजन करते थे और अपना रोजगार-धंधा सामान्य रूप से करते थे। इसलिए यह सोचकर कि तुम्हारा पुत्र मर गया है, दु:खी मत होवो क्योंकि दु:ख से भय की उत्पत्ति होती है क्योंकि किसी प्रिय का नाश हुआ है।"

"जिस प्रकार समय आने पर साँप अपनी केंचुली छोड़कर चला जाता है, वस्त्र पुराने होने पर व्यक्ति उसे छोड़ देता है उसी प्रकार इस शरीर का कार्य समाप्त हो जाने पर इस शरीर रूपी मशीन का चलना बंद हो जाता है।"

टिप्पणी: किसा गोतमी को भी बुद्ध ने पुत्र शोक पर समझाते हुए कहा था कि किसी परिवार से मुट्ठी भर सरसों ला दो जहाँ कोई मृत्यु को प्राप्त नहीं हुआ है तो तुम्हारे पुत्र को पुन: जीवित कर दूँगा।





गाथा: पेमतो जायती सोको, पेमतो जायती भयं।
पेमतो विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं।।213।।

अर्थ: आसक्ति से शोक होता है, आसक्ति से ही भय भी होता है। आसक्ति रहित को शोक नहीं हुआ करता। भय की बात ही कहाँ ?

प्रियजनों से दु:ख और भय की उत्पत्ति होती है
विशाखा की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

महाउपासिका विशाखा की एक पौत्री थी जिसका नाम सुदत्ता था। जब विशाखा घर में नहीं होती थी तो वह भिक्षुओं की आवभगत किया करती थी। कुछ समय बाद सुदत्ता का निधन हो गया। विशाखा ने उसके शरीर का क्रिया-कर्म किया पर अपने दु:ख को संभाल नहीं सकी। वह दु:खी होकर समय गुजारने लगी। मन की उसी दु:खद स्थिति के साथ वह एक दिन बौद्ध-विहार गई तथा शास्ता को सादर प्रणाम कर एक ओर बैठ गई। बुद्ध ने पूछा, "विशाखा ! तुम किस कारण यहाँ दु:खी, उदास, अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ, रोती और कलपती हुई बैठी हुई हो ?" तब विशाखा ने पूरी बात को समझाते हुए कहा, "भन्ते ! वह कन्या मुझे अति प्रिय थी, कर्त्तव्यनिष्ठ भी थी और सेवाभाव होने के कारण मेरा सारा काम सँभाल लेती थी; अब मुझे उसके जैसा दूसरा कोई नहीं मिलेगा।" "विशाखा ! मुझे बताओ कि श्रावस्ती में कितने लोग निवास करते हैं ?" "मैंने आपको ही चर्चा करते सुना है कि लाखों लोग रहते हैं।" "अगर ये सभी लोग तुमको तुम्हारी सुदत्ता की तरह प्रिय हो जायें तो क्या होगा ? क्या तुम ऐसा चाहोगी कि वे सभी लोग उसी की तरह तुम्हारे प्रिय हो जायें ?" "हाँ भन्ते" "लेकिन श्रावस्ती में कितने लोग प्रतिदिन मरते हैं ? " "अनेक, भन्ते ! " "ऐसा होने पर यह सुनिश्चित है कि तुम्हारे पास समय ही नहीं बचेगा कि तुम पूरी तरह रो भी सको; तुम दिन और रात कुछ और नहीं करोगी, सिर्फ रोती ही रहोगी। रोने के सिवा तुम्हें करने को कुछ नहीं बचेगा।" "हाँ भन्ते ! अब मैं समझ गई।" तब बुद्ध ने समझाया, "ठीक है, समझ गई। दु:खी मत होवो। जिनके सौ प्रियजन हैं, उन्हें सौ दु:ख होंगे। जिनका कोई प्रियजन नहीं होगा उन्हें कोई दु:ख नहीं होगा। ऐसा व्यक्ति राग रहित होकर शोक रहित हो जाता है। यह जो दु:ख और भय है ये दोनों ही प्रियजनों से उत्पन्न होते हैं। अत: जिसने प्रियजनों का सृजन नहीं किया उसे दु:ख कैसे होगा ? "

टिप्पणी: बुद्ध के उक्त संदेश से ऐसा प्रतीत हो सकता है कि वे पाषाण की तरह निष्ठुर, कठोर हैं क्योंकि वे प्रेम के विपरीत संदेश देते हैं। सच्चाई इससे पूर्णत: भिन्न है, बुद्ध वस्तुत: मानव जाति के प्रति प्रेम, दया, करुणा एवं मैत्री से परिपूर्ण हैं। इसीलिए वे मानव जाति को दु:खों से मुक्त कराना चाहते हैं। अपनी शोध के आधार पर उन्होंने पाया कि मनुष्य के दु:ख का सबसे बड़ा और एक मात्र कारण है "आसक्ति"। हमें आसक्ति और प्रेम के बीच का भेद समझना चाहिए। जिसे हम अक्सर प्रेम समझ बैठते हैं वह वस्तुत: प्रेम नहीं, आसक्ति है। प्रेम हमें मुक्त करता है, आसक्ति हमें बाँधती है। प्रेम सार्वभौम होता है, आसक्ति व्यक्ति विशेष या समूह विशेष के साथ होती है। प्रेम स्व के परे होता है, आसक्ति स्व के दायरे में ही सीमित रहती है। प्रेम हमें उर्ध्व दिशा में ले जाता है, आसक्ति निम्न दिशा की ओर। प्रेम हमें मुक्त कर खुले, नीले गगन में पंछी की तरह उड़ने का अवसर देता है, आसक्ति पैरों में बेड़ी बाँधकर कैदी की तरह जीवन जीने का।

अत: एक साधक को स्पष्टत: समझ लेना चाहिए कि प्रेम और आसक्ति में क्या भेद है और उसी के अनुसार आचरण करना चाहिए।





गाथा: रतिया जायती सोको, रतिया जायती भयं।
रतिया विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं।।214।।

अर्थ: आसक्ति (काम) से शोक उत्पन्न होता है, आसक्ति (काम) से भय उत्पन्न होता है। जिसमें आसक्ति (काम) नहीं है उसमें शोक कैसे उत्पन्न होगा, भय की तो बात ही कहाँ है?

राग की आग
लिच्छवी राजकुमारों की कथा
स्थान : कूटागारशाला, वैशाली

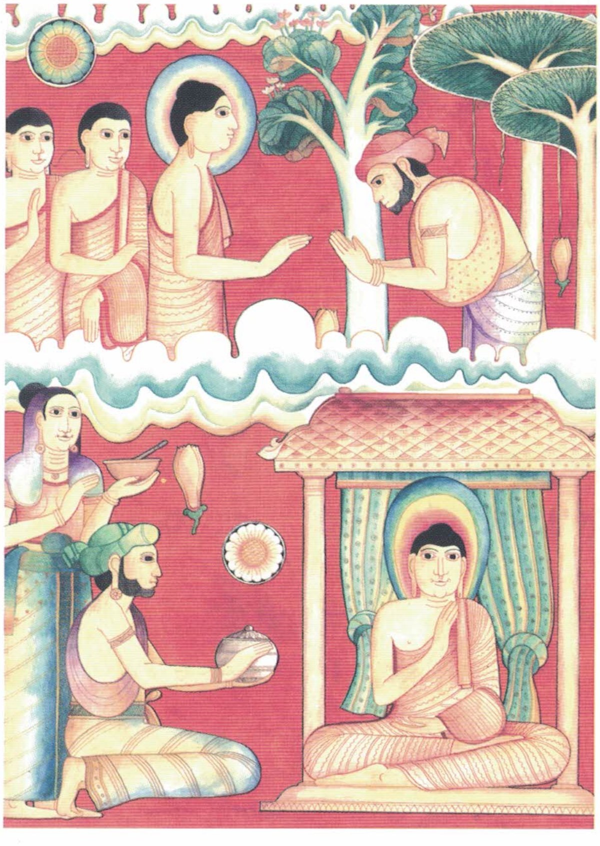
किसी उत्सव के दिन लिच्छवीकुमारगण अति सुन्दर वस्त्रों एवं आभूषणों से सुसज्जित होकर उद्यान जाने के लिए अपने घरों से निकले। उसी समय बुद्ध नगर में भिक्षाटन हेतु प्रविष्ट हुए और उन्होंने भिक्षुओं से कहा, "भिक्षुगण ! इन लिच्छवी राजकुमारों को देखो ! जिन्होंने त्रायस्त्रिंश दिव्य लोक के देवताओं को नहीं देखा है वे इन्हें देख लें।" ऐसा कहते हुए बुद्ध नगर में प्रवेश कर गए।

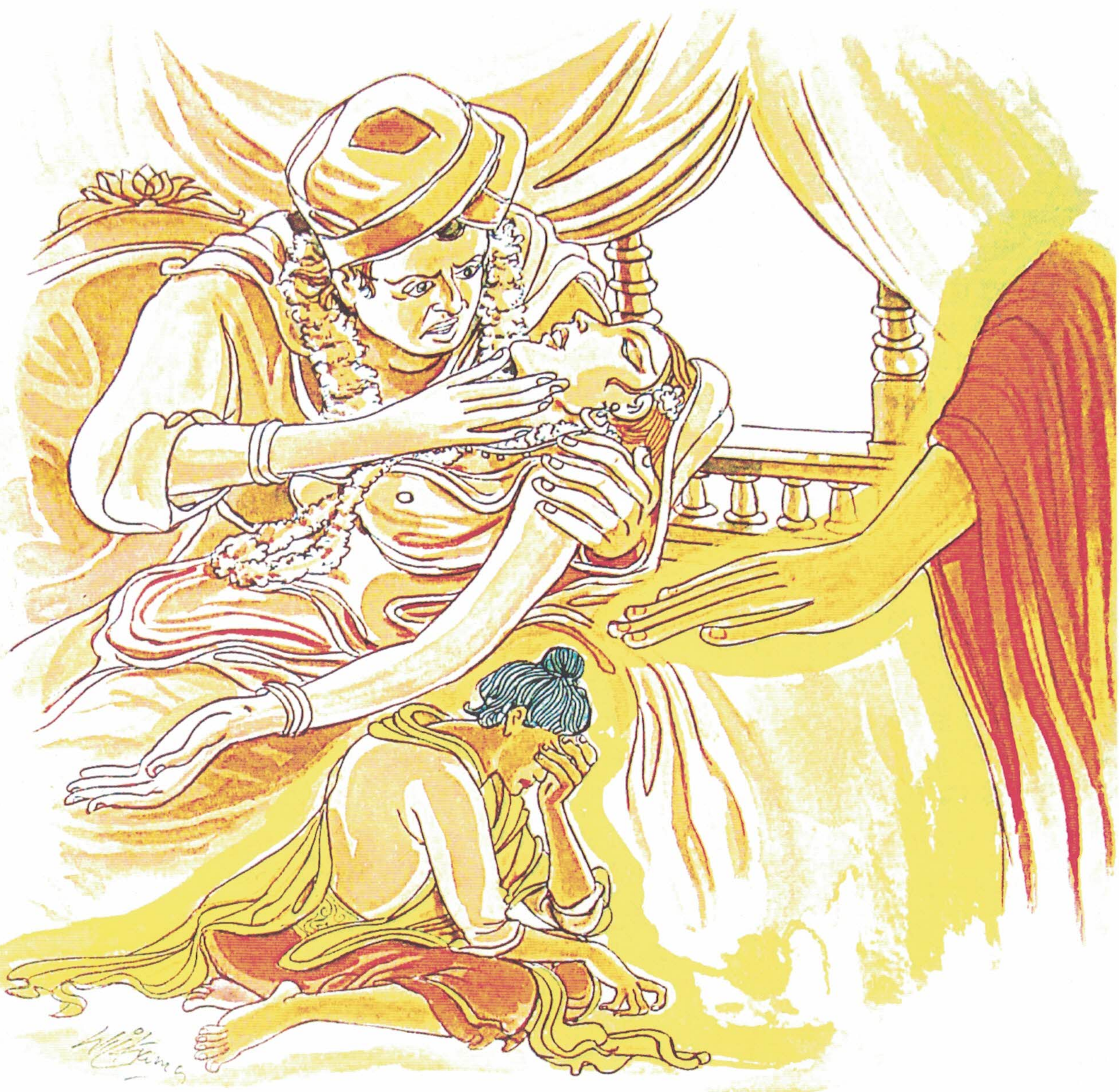
उधर उद्यान जाने के मार्ग में राजकुमारों ने एक सुन्दर वेश्या को भी अपने साथ ले लिया। वहाँ पहुँचने पर वेश्या के कारण उनमें आपस में जलन होने लगी और ईर्ष्यावश वे आपस में मार-काट कर युद्ध करने लगे। आपस में उस महिला को लेकर खूब घमासान युद्ध हुआ, मानों रक्त की नदी बह रही हो ! वे आपस में लड़कर घायल हो गए। उनकी हालत इतनी खराब हो गई कि उन्हें खाट पर लादकर ले जाना पड़ा। बुद्ध भोजन से निवृत्त होने के बाद नगर से विहार हेतु प्रस्थान कर गए।

जब भिक्षुओं ने इन लिच्छवी राजकुमारों को ढोये जाते हुए देखा तो उन्होंने बुद्ध से कहा, "भन्ते ! प्रातःकाल में लिच्छवी राजकुमार त्रायस्त्रिंश दिव्य लोक के देवतागण से भी अधिक सज-धज कर वैशाली से उद्यान की ओर गए और वे सभी एक स्त्री हेतु इस दुर्गति को प्राप्त हुए हैं। अब वे सभी गंभीर रूप से घायल होकर अपने-अपने घरों में पड़े हैं।" उनकी बात सुनकर शास्ता ने कहा, "भिक्षुओं ! स्त्री प्रेम (रति, आसक्ति) से अंततः शोक एवं भय उत्पन्न होता है और वह कष्ट का कारण बनता है।"

टिप्पणी : आसक्ति के विभिन्न कारणों में काम-शक्ति सबसे अधिक शक्तिशाली कही जाती है। विश्व इतिहास साक्षी है कि स्त्रियों के लिए राज्यों, राजाओं ने युद्ध लड़े हैं, खून बहाये हैं।

सिद्धार्थ को बुद्धत्व न मिले इसके लिए मार ने अन्तिम शस्त्र के रूप में अपनी पुत्रियों को भेजा था पर वे भी उन्हें पथ से च्युत न कर पाईं और वे अडिग रहे।





गाथा: कामतो जायती सोको, कामतो जायती भयं।
कामतो विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं।।215।।

अर्थ: काम से ही शोक का जन्म होता है। काम से ही भय उत्पन्न होता है। जो पुरुष कामी नहीं है वह न तो दुखी होता है और न भय से त्रस्त होता है।

शोक और भय : काम का परिणाम
कुमार अस्त्रीगन्ध की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

अस्त्रीगन्ध श्रावस्ती के एक महाधनवान का पुत्र था। जन्म से ही उसमें एक आश्चर्यजनक आदत थी। वह स्त्रियों के निकट नहीं जाता था, क्योंकि वह स्त्री-गंध बर्दाश्त नहीं कर सकता था। उसकी माता भी उसको कपड़े में लपेटकर दूध पिलाती थी। अतः उसका नाम अस्त्रीगन्ध कुमार पड़ गया। जब वह युवावस्था को प्राप्त हुआ तो उसके माता-पिता ने उससे कहा, "पुत्र, हमलोग तुम्हारा विवाह करना चाहते हैं; इस घर में एक बहू लाना चाहते हैं।" युवक के माता-पिता ने उस पर बहुत दबाव डाला तब उसने स्वर्णकारों को बुलाकर एक अति सुन्दर स्त्री की स्वर्ण-मूर्ति बनाने को कहा। स्वर्ण-मूर्ति बन गई तब उसने अपने माता-पिता से कहा; "अगर आप इस मूर्ति की तरह सुन्दर स्त्री ला सकते हों तो फिर मैं आपके आदेश का पालन कर सकता हूँ और उससे विवाह कर सकता हूँ।"

ऐसा कहकर उसने वह स्वर्ण-मूर्ति अपने माता-पिता को दे दी।

उसके माता-पिता ने पंडितों को बुलाकर उन्हें यह संदेश दिया, "अवश्य ही कोई लड़की होगी जो उसके योग्य होगी। इस स्वर्ण-मूर्ति को साथ लेकर जाओ और चारों दिशाओं में जाकर इस मूर्ति के समान खूबसूरत सुन्दरी को लेकर आओ।" वे उस युवती की तलाश में मद राज्य के सागल नगर में पहुँचे।

सागल नगर में एक अति सुन्दर षोडशी कन्या अपने माता-पिता के साथ रहती थी। ब्राह्मण पंडित उस मूर्ति को एक तालाब के बगल में रखकर विश्राम करने लगे। उस युवती की दासी उस तालाब के पास आई और जब उसने उस मूर्ति को देखा तो अपने आप से कहा, "मैंने सोचा था कि यह हमारी बेटी है; लेकिन देखें कि यह है क्या ? "पंडितों ने उससे पूछा, "स्त्री ! क्या तुम्हारी पुत्री इस मूर्ति की तरह सुन्दर लगती है ? " "यह मूर्ति हमारी बेटी की सुन्दरता के सामने कुछ नहीं है।" "ठीक है, तो फिर हमें अपनी पुत्री को दिखाइये।" वह दासी उन पंडितों को अपने स्वामी के आवास पर ले गई। लड़की के माता-पिता ने अपनी बेटी को बुला लिया और वह लड़की उस स्वर्ण-मूर्ति के बगल में आकर खड़ी हो गई। वह लड़की इतनी सुन्दर थी कि उसके सामने वह सुन्दर मूर्ति बिल्कुल साधारण प्रतीत होने लगी। पंडित जन ने लड़की के माता-पिता को वह मूर्ति भेंट में दे दी और उनसे विदा लेकर श्रावस्ती आ गए। उन्होंने अस्त्रीगन्धकुमार के माता-पिता को उस अति सुन्दर लड़की के विषय में बताया जिसे उन्होंने पसन्द किया था। कुमार के माता-पिता बहुत ही प्रसन्न हुए और उन्होंने पंडितों से कहा, "तुरंत जाओ और यथाशीघ्र उस कन्या को लेकर आओ।" जब अस्त्रीगंधकुमार ने इस प्रस्ताव के विषय में सुना तब उसने भी कहा, "जल्दी से जल्दी उस तरुणी को लेकर आओ।" उस लड़की की प्रशंसा सुनकर उसको भी उस लड़की में आसक्ति हो गई थी। ब्राह्मण उस लड़की को लेकर श्रावस्ती चले। वह बहुत ही नाजुक थी, पहले किसी रथ में इतनी दूर नहीं गई थी। अतः उस रथ की यात्रा को बर्दाश्त नहीं कर पाई और मर गई। जब उसकी मृत्यु की सूचना अस्त्रीगंधकुमार को दी गई तो उसने कहा, "ऐसी सुन्दर स्त्री के साथ मिलना संभव नहीं हो पाया।" वह दुख के सागर में डूब गया।

उसी समय बुद्ध भिक्षाटन हेतु उसके गृहद्वार पर पहुँचे। उसके माता-पिता ने श्रद्धापूर्वक अंदर बुलाकर भोजन कराया। अनुमोदन के समय बुद्ध ने पूछा, "अस्त्रीगंधकुमार कहाँ है ? उसे बुलाओ।" कुमार को बुलाया गया। वह शास्ता को सादर प्रणाम कर एक ओर बैठ गया। तब तथागत ने पूछा, "कन्या नहीं मिली इसी कारण इतने दुखी हो ? " "हाँ भन्ते ! बहुत मुश्किल से एक अति सुन्दर स्त्री मिली थी। पर वह भी राह में आते समय मर गई। अब कुछ अच्छा नहीं लगता। शोक-समुद्र में छोड़ गई।" तथागत ने समझाया, "क्या तुम जानते हो कि तुम्हें इतना अधिक शोक क्यों हुआ है ? " "नहीं।" "यह काम के कारण उत्पन्न हुआ है। काम से ही शोक और भय उत्पन्न होता है।





गाथा: तण्हाय जायती सोको, तण्हाय जायती भयं।
तण्हाय विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं।।216।।

अर्थ: तृष्णा शोक की जननी है, वही भय को भी जन्म देती है। जो तृष्णा से परे है, उसे शोक नहीं हो सकता है, भय होने का प्रश्न ही कहाँ है ?

तृष्णा : दु:ख और भय का कारण
एक ब्राह्मण की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

श्रावस्ती में एक अन्य सम्प्रदाय का अनुयायी ब्राह्मण रहता था। एक दिन नदी के तट पर अपने खेत में काम कर रहा था। बुद्ध उधर से गुजरे और उन्होंने उस किसान को देखा। उस ब्राह्मण किसान ने यद्यपि बुद्ध की ओर देखा पर उन्हें प्रणाम नहीं किया और चुपचाप अपने काम में लगा रहा। पहल करने वाले बुद्ध ही थे और उन्होंने कहा, "ब्राह्मण ! क्या कर रहे हो ?" "अपने खेत की सफाई कर रहा हूँ, भन्ते !" बुद्ध ने और कुछ नहीं कहा और अपनी राह चले गए। दूसरे दिन वह ब्राह्मण अपने खेत में हल चलाने गया। बुद्ध उसके निकट गए और पूछा, "ब्राह्मण क्या कर रहे हो ?" "हल चला रहा हूँ, भन्ते !" बुद्ध ने उसका उत्तर सुना और अपने रास्ते चले गए। इस प्रकार कई दिनों तक बुद्ध उस ब्राह्मण के पास गए और उससे वही प्रश्न किया। उत्तर पाकर कि "भन्ते ! मैं बीज बो रहा हूँ, मैं खर-पतवार निकाल रहा हूँ, मैं अपने खेत की रखवाली कर रहा हूँ " बुद्ध अपनी दिशा चले गए। एक दिन ब्राह्मण ने बुद्ध से कहा, "भन्ते ! आप मेरे पास तब से आ रहे हैं जब से मैंने खेत की सफाई शुरू की थी। अगर मेरी फसल अच्छी हुई तो मैं आपको भी उस फसल का हिस्सा दूँगा। मैं आपको दिये बिना सिर्फ अकेला नहीं खाऊँगा, आज के बाद आप भी मेरे इस फसल के हिस्सेदार हैं।" समय बीतता गया, फसल बढ़ती गई। एक दिन किसान ने अपने आप से कहा, "मेरी फसल पक गई है, कल किसानों को कटाई के लिए लगा दूँगा।" इस प्रकार उसने अगले दिन कटाई कराने का प्रबंध करा दिया, लेकिन उसी रात बड़ी तेज बारिश हुई, तूफान आया और सारी खड़ी फसल को बहा ले गया। देखने से ऐसा लगता था कि कोई खेती हुई ही नहीं है; खेत पूरी तरह साफ था यद्यपि बुद्ध को प्रथम दिन से ही पता था कि ब्राह्मण फसल नहीं काट पायेगा। अगले दिन जब ब्राह्मण ने पूरी फसल चौपट देखा, तो उसने अति दु:खी होकर अपने आप से कहा, "प्रथम दिन, जब मैंने खेत की सफाई की थी, तब से ही भिक्षु गौतम मेरे खेत पर आते रहे हैं और मैंने उन्हें कहा भी है, 'अगर मेरी खेती अच्छी होती है तो मैं इसका आपसे भी बँटवारा करूँगा। मैं आपको दिये बिना अकेला नहीं खाऊँगा। आज से आप मेरे भागीदार हैं' लेकिन मेरे हृदय की कामना पूरी नहीं हो पाई ।" ऐसा सोचकर उसने भोजन त्याग दिया और बिस्तर पर जा गिरा। उधर बुद्ध प्रातःकाल भिक्षाटन के लिए जा रहे थे। वे उसके दरवाजे पर रूके। जब ब्राह्मण ने सुना कि बुद्ध आये हैं, तब उसने कहा, "मेरे हिस्सेदार को बुला लाओ और उन्हें मेरे पास यहाँ बैठने के लिए आसन दो।" उसके नौकरों ने वैसा ही किया जैसा उन्हें कहा गया था। जब बुद्ध उसके पास आकर आसन पर विराजमान हो गए तब उन्होंने पूछा, "ब्राह्मण, क्या बात है ?" "भन्ते ! आप प्रथम दिवस से ही मेरे खेत पर आते रहे हैं जब से मैंने उसकी सफाई की थी और मैंने आपसे कहा था, 'यदि मेरी फसल अच्छी हुई तो इसे आपके साथ बाँटकर खाऊँगा' लेकिन मेरे हृदय की इच्छा पूरी नहीं हो पाई । इसलिए मेरे ऊपर दु:ख का पहाड़ टूट पड़ा है और कुछ भी अच्छा नहीं लगता है; भूख मर गई है।" तब बुद्ध ने उससे कहा, "लेकिन, ब्राह्मण ! क्या तुम्हें इस दु:ख का कारण मालूम है कि तुम क्यों दु:खी हो ?" "नहीं भन्ते, मुझे नहीं पता है, लेकिन आपको पता है।" बुद्ध ने उत्तर दिया, "हाँ, ब्राह्मण ! जब कभी दु:ख या भय की उत्पत्ति होती है, वह मात्र तृष्णा से उत्पन्न होती है।"

टिप्पणी : चार आर्य सत्य में भी दु:ख के कारण का विश्लेषण करते हुए बुद्ध बताते हैं कि तृष्णा ही सभी दु:खों का कारण है।





गाथा: सीलदस्सनसंपन्नं, धम्मट्ठं सच्चवादिनं।
अत्तनो कम्म कुब्बानं, तं जनो कुरुते पियं।।217।।

अर्थ: जो भिक्षु शील-सदाचार एवं दर्शनज्ञान से युक्त है, धर्माचरण करता है, सत्यवक्ता है, अपने कर्त्तव्यों के प्रति सजग है ऐसे व्यक्ति से सबों को प्रेम हो जाता है।

धर्मस्थ सबों को प्रिय होता है
पाँच सौ बालकों की कथा

स्थान : वेणुवन, राजगृह

किसी त्यौहार के दिन बुद्ध अपने आठ वरिष्ठ भिक्षु एवं भिक्षुसंघ के साथ जब राजगृह में प्रवेश कर रहे थे तब उन्होंने पाँच सौ लड़कों को मालपूओं की टोकरी लेकर बागीचे की ओर जाते हुए देखा। जब उन्होंने बुद्ध को देखा तो उन्हें सादर प्रणाम किया पर किसी भी भिक्षु से मालपूआ खाने का आग्रह नहीं किया और अपने रास्ते पर चले गए। जब वे चले गए तब बुद्ध ने भिक्षुओं से प्रश्न किया, "भिक्षुगण, क्या तुमलोग मालपूआ खाना नहीं चाहोगे ?" "भन्ते, मालपूए हैं कहाँ ?" "उन लड़कों को अपने सिर पर मालपूओं की टोकरी ले जाते हुए नहीं देख रहे हो ?" "भन्ते, इस प्रकार के युवक किसी को भी मालपूए नहीं देते हैं।" "शिष्यों, यद्यपि इन बालकों ने तुमलोगों को या मुझे पूए खाने के लिए आमंत्रित नहीं किया है, लेकिन इन मालपूओं का स्वामी, एक भिक्षु, इनके पीछे-पीछे आ रहा है। तुमलोग जाने से पूर्व कुछ पूए तो खा लो।"

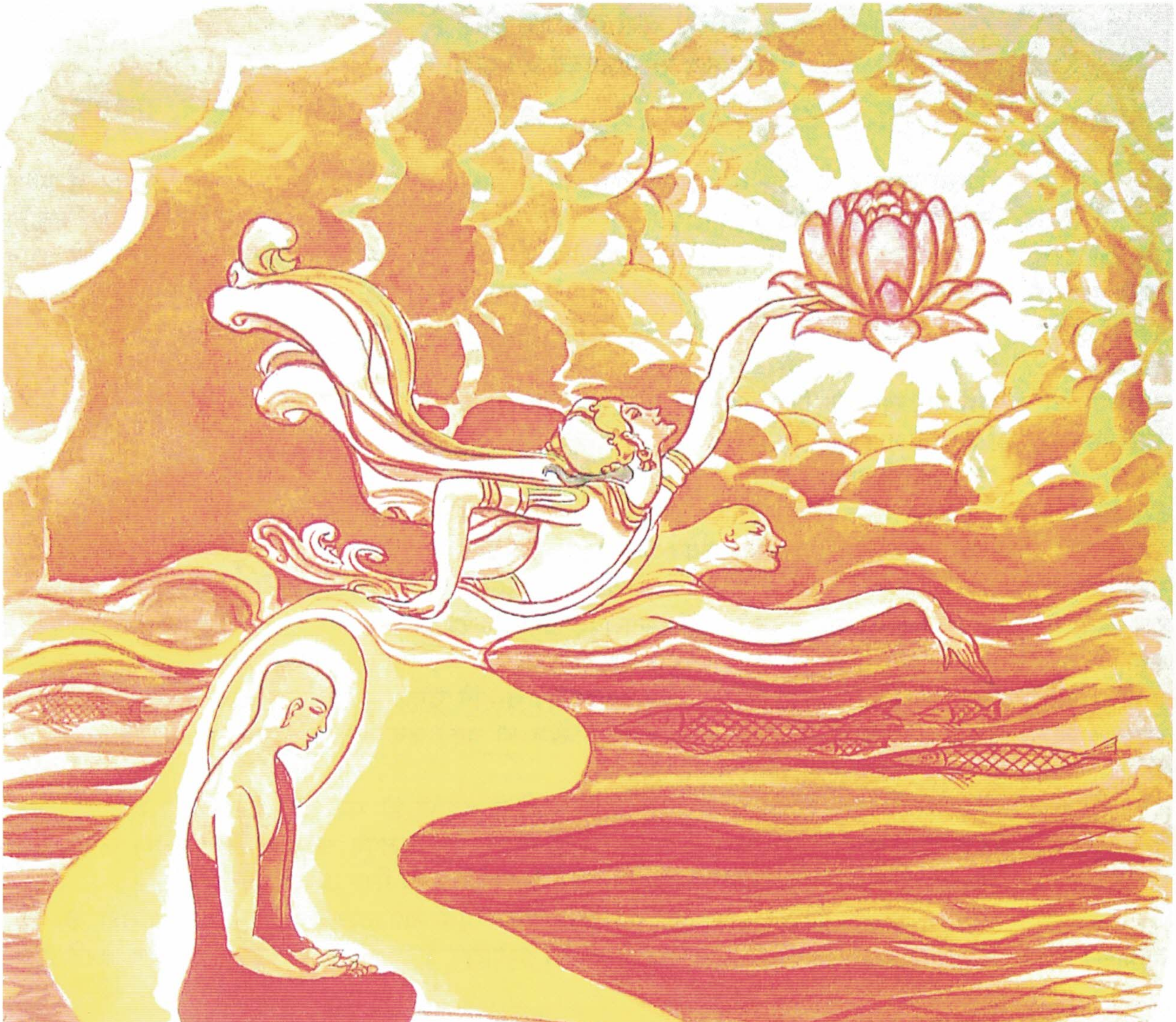
बुद्ध या भिक्षुगण किसी भी व्यक्ति के प्रति किसी भी प्रकार की दुर्भावना या घृणा नहीं रखते। इस कारण बुद्ध ने उपरोक्त बात कही। ऐसा कहकर बुद्ध अन्य भिक्षुओं के साथ एक वृक्ष की छाया में बैठ गए।

जब युवकों ने भन्ते महाकाश्यप को अपने पीछे-पीछे आते हुए देखा तो तुरंत उनके पास जाकर श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया। वे सभी उनको देखकर अति प्रसन्न थे। उन्होंने तुरंत मालपूओं की टोकरियों को जमीन पर रख दिया और उनसे आग्रह किया, "भन्ते ! कुछ मालपूए ग्रहण करें।" तब उनको उत्तर देते हुए महाकाश्यप ने कहा, "वहाँ सामने बुद्ध अपने भिक्षुसंघ के साथ एक वृक्ष के नीचे बैठे हैं। अपने मालपूओं की टोकरी ले जाओ और उन्हें समर्पित करो।" "जो आज्ञा, भन्ते", युवकों ने उत्तर दिया। उन्होंने उनकी आज्ञा का पालन किया, महाकाश्यप के साथ जाकर उन भिक्षुओं में मालपूए बाँटकर एक तरफ खड़े हो गए। जब भिक्षुओं ने मालपूए खा लिए तब उन्हें पीने का पानी दिया और उनका हाथ भी धुला दिया।

बालकों के इस प्रकार के आचरण से कुछ भिक्षु नाराज हो गए और कहा, "इन युवकों ने दान देने में पक्षपात किया है; उन्होंने न तो बुद्ध से और न अन्य भिक्षुओं से मालपूए खाने के लिए पूछा। जब उन्होंने महाकाश्यप को देखा तो उनके ही पास चले गए और उन्हें मालपूए खाने के लिए आग्रह किया।"

बुद्ध ने उनकी बात सुनकर कहा, "भिक्षुओं ! मेरे पुत्र महाकाश्यप के समान भिक्षु सबों को प्रिय होता है। मनुष्य और देवतागण दोनों ही उसमें श्रद्धा रखते हैं। इसीलिए वे उसकी चारों प्रत्ययों से पूजा करते हैं।"





गाथा: छन्दजातो अनक्खाते, मनसा च फुटो सिया।
कामेसु च अप्पटिबद्धचित्तो, उद्धंसोतो ति वुच्चति।।218।।

अर्थ: जिसके अन्दर निर्वाण प्राप्त करने की तीव्र इच्छा जाग्रत हो गई है और जो उसी के लिए प्रयत्नशील है तथा कामनाओं से मुक्त हो चुका है, उसे ही उर्ध्वस्त्रोत कहा जाता है।

उर्ध्वगामी पुरुष के गुण
अनागामी भिक्षु की कथा

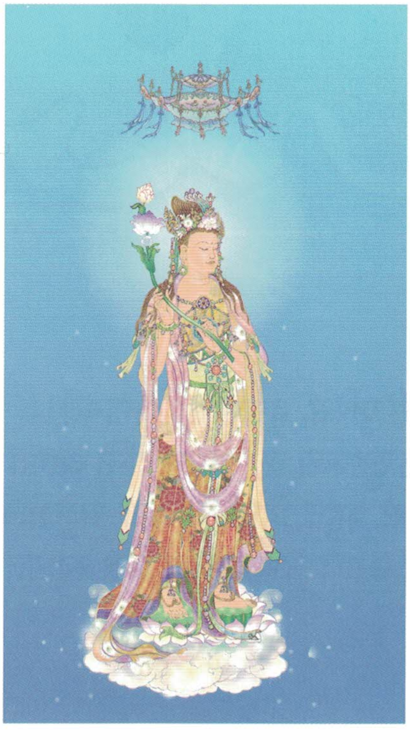
स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

यह कथा बुद्ध ने एक अनागामी भिक्षु के संदर्भ में कही थी। एक दिन एक स्थविर से अन्य भिक्षुओं ने पूछा, "भन्ते ! क्या आपने दूसरों की तुलना में कोई अतिरिक्त फल प्राप्त किया है ?" यद्यपि स्थविर ने मार्ग के तृतीय सोपान, अनागामी फल को प्राप्त कर लिया था फिर भी उसे लगा कि यह उपलब्धि भी कोई उपलब्धि है क्या ? "अनागामी फल तो गृहस्थ भी प्राप्त कर लेते हैं; तब मेरी क्या उपलब्धि है ? अर्हत्व प्राप्त करने के बाद अपने विषय में बताऊँ तो फिर कोई बात हुई !" ऐसा सोचकर वह स्थविर चुप रहा। इस प्रकार लज्जावश वह स्थविर अपने बारे में कुछ नहीं बता सका। उसी समय उसकी मृत्यु हो गई। मृत्यु के समय वह अर्हत्व प्राप्त नहीं कर सका ।

उस स्थविर के शिष्यगण उसकी मृत्यु से बहुत दुःखी हुए। उन्हें लगा कि उनके उपाध्याय ने बिना किसी उपलब्धि के ही संसार से आँखें मूँद ली हैं। वे रूदन-क्रंदन करते हुए शास्ता को प्रणाम कर एक तरफ शांति से बैठ गए।

तब शास्ता ने उनसे उनके रूदन का कारण पूछा। "हमारे उपाध्याय का निधन हो गया।" "यह बात सुनिश्चित मान लो कि शरीरधारी का निधन होगा ही, जो आया है, वह जायेगा ही। तब तुम उस पर शोक क्यों कर रहे हो ?" "हम उनके निधन के ऊपर शोक नहीं कर रहे हैं। शरीर त्यागने से पूर्व हमारे उपाध्याय ने हमें नहीं बताया कि उन्होंने इस जन्म में कोई विशिष्ट उपलब्धि हासिल की या नहीं। इस बात को बताये बिना ही वे दुनियाँ से चले गए, हमें इसी बात का दुःख है। कृपया हमें बताइए कि उनका पुर्नजन्म कहाँ हुआ है ?"

तब बुद्ध ने वस्तुस्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा, "भिक्षुओं ! तुम्हारे गुरू पहले ही अनागामी फल प्राप्त कर चुके थे। देहपात के बाद उनका जन्म शुद्धावास देवलोक में हुआ है। उन्होंने अनागामी फल प्राप्त कर लिया था पर लज्जावश यह सोचकर कि अभी तक मात्र इतना ही प्राप्त किया था, अनागामी की उपलब्धि बता नहीं पाए। मृत्यु के समय तक वह अर्हत्व प्राप्त करने के लिए यथासंभव प्रयत्न कर रहे थे। तुम्हारे शिक्षक अब कामलोक के इन्द्रियजनित आसक्तियों से मुक्त हो गए हैं।"





गाथा: चिरप्पवासिं पुरिसं, दूरतो सोत्थिमागतं।।
ञातिमित्ता सुहज्जा च, अभिनन्दन्ति आगतं।।219।।

अर्थ: जैसे दूर से बहुत दिनों के बाद सकुशल आने वाले प्रवासी व्यक्ति का उसके सम्बन्धी एवं मित्र स्वागत करते हैं।

आपके सत्कर्म आपका स्वागत करते हैं
नन्दिय की कथा

स्थान : ऋषिपत्तन, सारनाथ

यह गाथा बुद्ध ने ऋषिपत्तन (सारनाथ, वाराणसी) में नन्दिय कुलपुत्र के सम्बन्ध में कही थी।

बनारस में नन्दिय नाम का एक युवक रहता था। वह एक श्रद्धावान माता-पिता का होनहार पुत्र था। वह धर्म में आस्था रखने वाला, आज्ञाकारी और संघ का उपासक था। उसके तरुणावस्था में पहुँचने पर उसके माता-पिता ने सोचा कि उसका विवाह उसके मामा की लड़की रेवती से कर दिया जाये जो उनके घर के ठीक सामने ही रहती थी। लेकिन रेवती को बुद्धसंघ में कोई श्रद्धा नहीं थी और न ही उसे दान आदि पुण्य कर्म करने में कोई रुचि थी। इसलिए नन्दिय उससे शादी नहीं करना चाहता था। अतः नन्दिय की माँ ने रेवती को समझाया, "प्यारी बेटी, घर की सफाई अच्छी तरह करो, विशेषकर वह स्थल जहाँ भिक्षु आकर बैठेंगे, उसे गोबर से अच्छी तरह लीप दो, भिक्षुओं के बैठने के लिए आसन लगा दो, सभी चीजों को सुव्यवस्थित रख दो, और जब भिक्षुगण पधारें, उनका पात्र ले लो, उन्हें बैठने के लिए आमंत्रित करो और उनके जल-पात्र में जल दे दो। जब वे भोजन कर लें तब उनके पात्र को धो डालो। अगर तुम ऐसा करोगी तो मेरा पुत्र तुमसे प्रसन्न हो जाएगा और विवाह करने के लिए राजी हो जाएगा।" रेवती ने वैसा ही किया जैसा नन्दिय की माँ ने बताया था। तब नन्दिय की माँ ने नन्दिय को बताया, "रेवती अब एक बहुत ही धैर्यवान लड़की हो गई है, जिसे बौद्ध-संघ में श्रद्धा है।" तब नन्दिय ने शादी की स्वीकृति दे दी, शादी की तारीख तय की गई और उनका विवाह सम्पन्न हो गया। नन्दिय ने अपनी पत्नी से कहा, "अगर तुम निःस्वार्थ भाव से भिक्षु-संघ एवं मेरे माता-पिता की सेवा करोगी तो इस शर्त पर तुम मेरे साथ रह सकोगी; अतः तुम सजग रहना।" "जो आज्ञा", रेवती ने कहा और ऐसा ही करने का आश्वासन दिया। कुछ ही दिनों में वह भिक्षु संघ की सच्ची साधिका की तरह काम करने लगी। उसे बुद्ध में भी पूर्ण श्रद्धा हो गई। वह पूर्ण आज्ञाकारिणी की तरह पति की सेवा करती थी और भिक्षु संघ के प्रति अपने कर्त्तव्यों का अनुपालन करती थी। उसने समय के अंतराल में दो पुत्रों को जन्म दिया। जब नन्दिय के माता-पिता का देहावसान हो गया तब वह पूरे घर की गृहस्वामिनी बन गई। माता-पिता की मृत्यु पर नन्दिय को अपार धन की प्राप्ति हुई। उसने उस धन से भिक्षुओं के लिए नियमित रूप से भिक्षा-दान की व्यवस्था करा दी। अपने घर के सामने भी गरीब लोगों एवं मुसाफिरों के लिए मुफ्त भोजनशाला का प्रबंध कर दिया। कुछ समय बाद, बुद्ध के धर्म-प्रवचन को सुनकर उसने महसूस किया कि बुद्ध और भिक्षुसंघ की सेवा से उसे बहुत लाभ होगा। अतः उसने एक आवासीय भवन बनाकर भिक्षु संघ को समर्पित करने का मन बनाया। उसने इसे ऋषिपत्तन (सारनाथ, वाराणसी) के विहार के पास ही बनवाया। उसमें चारपाई और बिस्तर लगा कर इस आवासीय प्रांगण को बुद्ध और उनके भिक्षुसंघ को समर्पित कर दिया। उस धर्म-सभा में उसने बुद्ध और भिक्षु-संघ को दान दिये। बुद्ध के दाहिने हाथ पर दान रूपी जल गिराते हुए आवासीय भवन का दान कर दिया। जैसे ही उसने बुद्ध को दक्षिणोदक दिया, त्रायस्त्रिंश दिव्य लोक में, चारों तरफ बारह योजन में फैला हुआ एक विशाल भव्य प्रासाद खड़ा हो गया। विभिन्न प्रकार के रत्नजड़ित यह प्रासाद बहुत ही सुन्दर था।





गाथा: तथेव कतपुञ्ञं पि, अस्मा लोका परं गतं।
पुञ्ञानि पटिगण्हन्ति, पियं ञाती व आगतं।।220।।

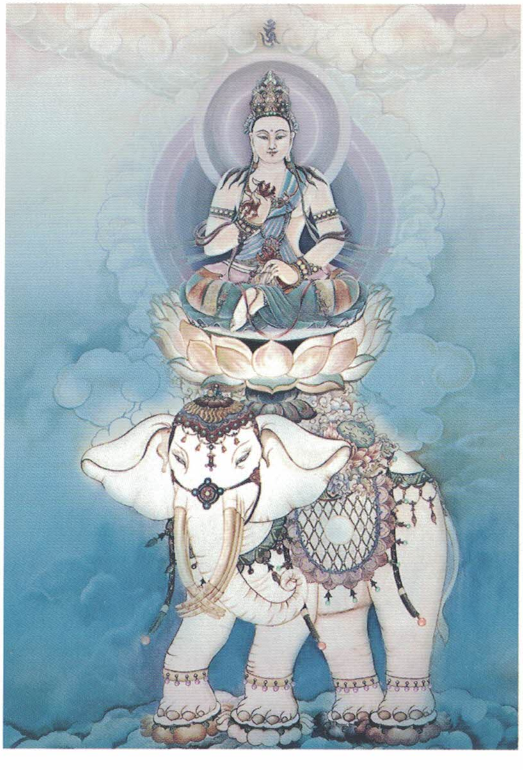
अर्थ: उसी प्रकार इस लोक से परलोक गए पुरुष का भी उसके पुण्य कर्म, चिर परिचित भाई के समान, स्वागत करते हैं।

सद्पुरुष का सदैव स्वागत होगा
नन्दिय की कथा

एक दिन स्थविर महामोग्गलान चारिका हेतु देव लोक पधारे। वे उस महल के निकट रुक गए। उनके समीप कुछ देवपुत्र आए तो उनसे पूछा, "यह अप्सराओं से युक्त महल किसके आवास के लिए बना है ? "वे उस महल के स्वामी के बारे में बताने लगे, "भन्ते ! जिस नन्दिय उपासक ने ऋषिपत्तन में बुद्ध के लिए विहार बनाकर उसका दान किया है, उसी पुण्य प्रताप से यह प्रासाद उसी के लिए बना है।" उस प्रासाद में रहने वाली अप्सराएं भी उतर आईं और शास्ता से कहा, "नन्दिय के आने पर हम उनकी सेवा करेंगी। इसी कारण हम सबों की उत्पत्ति हुई है। पर हम उन्हें देख नहीं पा रहे हैं। हमें उन्हें देखने की चाह है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति मिट्टी के पात्र को छोड़कर स्वर्णपात्र प्राप्त करने की कामना करता है उसी प्रकार उन्हें पृथ्वी लोक छोड़कर देवलोक आ जाना चाहिए। हमें पता नहीं कि वे यहाँ कब आयेंगे ? कृपया उन्हें यहाँ आने के लिए कहिए।" स्थविर देवलोक से लौटने के बाद शाक्य-मुनि के पास गए और उन्हें प्रणाम कर प्रश्न कर दिया, " भन्ते ! क्या ऐसा भी हो सकता है कि किसी व्यक्ति के लिए जो जीवलोक में पुण्यकार्यों कर रहा है, उसके शरीर-त्याग से पूर्व ही उसके लिए दिव्य सम्पत्ति का निर्माण हो जाए।" तब बुद्ध ने मोग्गलान से पूछा, "तुमने तो अभी-अभी देवलोक जाकर नन्दिय के लिए बनाई गई सम्पत्ति को खुद अपनी आँखों से देखा है, फिर तुम मुझसे यह प्रश्न क्यों कर रहे हों ?" "क्या भन्ते ! सचमुच पहले से ही ऐसी सम्पत्ति का सृजन हो सकता है ? "

तब तथागत ने पुनः उत्तर दिया, "मोग्गलान ! तुम ऐसी बात क्यों कर रहे हो ? जैसे इस संसार में कोई व्यक्ति गाँव की सीमा पर अपने किसी चिर परिचित भाई या पुत्र को बहुत दिनों के बाद गाँव वापस आता हुआ देखता है तो वह तुरंत गाँव में दौड़ता हुआ जाता है तथा रास्ते भर कहता जाता है 'अमुक व्यक्ति आया है' और गाँव वाले अति प्रसन्न होकर उससे मिलने के लिए घर से निकल कर रास्ते में ही उस व्यक्ति से मिलकर कहने लगते हैं, 'घर आ गए पुत्र ! ठीक से हो न ?' और उसका स्वागत करने लगते हैं। उसी प्रकार जो पुरुष या स्त्री इस लोक में पुण्य कर्म करते हैं, उनके शरीर त्याग कर देवलोक जाने पर देवतागणों में आपस में होड़ लग जाती है कि कौन उस पुरुष या स्त्री के पास पहले जाए और अपने साथ लाए उपहार उन्हें भेंट कर सके।"

इस प्रकार स्पष्ट करते हुए बुद्ध ने ये दो गाथायें कहीं।



DHAMMAPADA

PIYA VAGGA




क्रोध का अभिशाप
धम्मपद
क्रोध वर्ग
गाथा और कथा

क्रोध का अभिशाप

धम्मपद

क्रोध वर्ग

गाथा और कथा

संस्कारक
हृषीकेश शरण

विषय सूची

क्रोध वर्ग



गाथा: कोधं जहे विप्पजहेय्य मानं, संयोजनं सब्बमतिक्कमेय्य ।
तं नामरूपस्मिं असज्जमानं, अकिञ्चनं नानुपतन्ति दुक्खा ।।221।।

अर्थ: क्रोध छोड़ देना चाहिए। झूठ के अभिमान से दूर रहना चाहिए। सभी बन्धनों से मुक्त होकर आगे बढ़ते जाना चाहिए। जो नाम-रूप में आसक्त नहीं है उसे दुख नहीं होगा।

क्रोध और अहंकार छोड़ो
रोहिणी की कथा

स्थान : निग्गोधाराम

एक बार स्थविर अनुरूद्ध अन्य भिक्षुओं के साथ कपिलवस्तु पधारे। वहाँ उनके सभी सम्बन्धी उनसे मिलने आए पर उनकी बहन रोहिणी मिलने नहीं आई। उन्होंने बहन के नहीं आने का कारण पूछा तो लोगों ने बताया कि उसे कोढ़ हो गया है और इस लज्जा के कारण वह अपने भ्राताश्री से मिलने नहीं आई। स्थविर ने उसे बुला भेजा तो वह चेहरा ढक कर आई। तब स्थविर अनुरूद्ध ने उससे न आने का कारण पूछा। "मुझे चर्म रोग हो गया है। इसी लज्जा से मैं आपके सामने नहीं आ पाई," रोहिणी ने कहा। तब आयुष्मान अनुरूद्ध ने पूछा, "तू कुछ पुण्य का कार्य नहीं कर सकती है ?" रोहिणी ने पूछा, "मैं क्या करूँ भन्ते ?" "तू भिक्षुओं के निवास के लिए एक आसनशाला बनवा दे" "धन कहाँ से मिलेगा ?" "तेरे पास जो आभूषण हैं उन्हें बेच दे और उससे आसनशाला बनवा दे," "मेरी सहायता कौन करेगा ?" तब स्थविर ने अपने रिश्तेदारों की ओर देखते हुए कहा, "आपलोग रोहिणी की मदद करेंगे। मैं भी निर्माण होने तक यहीं रहूँगा।" स्थविर अनुरूद्ध ने अपनी बहन को यह भी सलाह दी कि जब तक भवन का निर्माण नहीं होता है तब तक तुम भिक्षुओं की सेवा करती रहो। रोहिणी ने अपने भ्राताश्री की आज्ञा मान ली। अपने आभूषण बेच दिये और उस पैसे से दो मंजिला आसनशाला बनवा दिया और उसकी साफ-सफाई कराकर, भिक्षुओं के रहने की व्यवस्था कर दी। भिक्षुगण वहाँ आकर रहने लगे।

इस पुण्यकर्म के फलस्वरूप रोहिणी के शरीर का चर्म रोग ठीक हो गया। तदुपरान्त उसने शास्ता और उनके भिक्षुसंघ को भोजन दान के लिए आमंत्रित किया। भोजनोपरान्त शाक्यमुनि ने अपने शिष्यों से पूछा कि यह दान किसका है। तब स्थविर अनुरूद्ध ने बताया कि यह दान उनकी बहन रोहिणी का है। बुद्ध ने पूछा, "वह कहाँ है ?" "वह घर पर ही है" "उसे बुला लो।" "वह आना नहीं चाहती है" "फिर भी उसे बुला लो।" शास्ता के आदेश पर रोहिणी आई। शाक्य मुनि ने उससे पूछा कि वह क्यों नहीं आ रही थी। उसने उत्तर दिया कि वह चर्मरोग से बुरी तरह पीड़ित है और इसी लज्जा के कारण नहीं आ रही थी। तब शास्ता ने उससे पूछा, "क्या तुम्हें मालूम है कि तुम्हें यह चर्मरोग क्यों हुआ" "नहीं श्रीमान्।" "तो फिर अपने भूतकाल को सुनो।"

प्राचीन काल में रोहिणी वाराणसी के एक राजा की पटरानी थी। राजा एक नर्तकी से बहुत प्रसन्न रहा करता था और पटरानी यह देखकर बहुत जलती थी। अतः उसने राजनर्तकी से बदला लेने की योजना बनाई। उसने एक अति तीव्र खुजली उत्पन्न करने वाले पदार्थ को उस नर्तकी के बिस्तर पर बिखेर दिया और फिर उसे बुलाकर उसके शरीर पर भी छींट दिया। वह खुजली से बुरी तरह त्रस्त हो गई और आराम के लिए अपनी शय्या की ओर दौड़ी। पर वहाँ बिस्तर पर लेटते ही वह और अधिक पीड़ा से तड़प उठी।

शास्ता ने उसके अतीत को समझाते हुए कहा, "ईर्ष्या और क्रोध के कारण इस जन्म में तुम कुष्ठरोग से पीड़ित हुई। जीवन में अल्पमात्र भी ईर्ष्या, जलन या क्रोध करना उचित नहीं है।"





गाथा:	यो वे उप्पतितं कोधं, रथं भन्तं व धारये । तमहं सारथिं ब्रूमि, रस्मिग्गाहोतरो जनो ।।222।।
अर्थ:	जो क्रोध को भागते हुए रथ की तरह रोक लेता है उसे ही मैं सारथि कहता हूँ। अन्य तो मात्र लगाम पकड़ने वाले हैं।

क्रोध मार्ग से बचकर चलें
एक भिक्षु की कथा

स्थान : अग्गालव चेतिये

एक बार आलवी नगर में वास करते समय बुद्ध ने यह गाथा कही थी।

जब बुद्ध ने भिक्षुओं को स्वतंत्रता दे दी कि वे विहार के बाहर जाकर अपने आवास की व्यवस्था कर सकते हैं तब आलवी के एक भिक्षु ने अपने लिए आवास की व्यवस्था करने की सोची। अतः उसने एक हरा-भरा सुंदर वृक्ष देखकर उसे काटने की योजना बनाई। जब उसने वृक्ष को काटना शुरू किया तो उस वृक्ष में रहने वाली देवी अपने पुत्र के साथ आई और भिक्षु से प्रार्थना करने लगी कि उस वृक्ष को न काटे। उसके पास रहने के लिए कोई अन्य स्थान नहीं था और यह वृक्ष ही उसका एक मात्र सहारा था। पर भिक्षु ने उसके आग्रह की अनसुनी कर दी और वृक्ष को काटता ही रहा। तब देवी ने सोचा कि अपने पुत्र को सामने रख देती हूँ। संभव है बच्चे को देखकर भिक्षु के हृदय में दयाभाव आ जाए और वह वृक्ष काटना त्याग दे।

अतः देवी ने अपने पुत्र को वृक्ष की एक डाल पर बिठा दिया। इधर भिक्षु ने अपनी कुल्हाड़ी चला दी थी जिसे वह रोक न सका और इस कारण उस बालक का हाथ ही कट गया। वृक्ष देवी के क्रोध की सीमा न रही। उसने प्रतिशोध में भिक्षु की हत्या करने की सोची। पर उसी समय उसके मन में यह सुविचार आया कि यह भिक्षु धर्मनिष्ठ है तथा शील का पालन करता है। अगर मैंने इसकी हत्या कर दी तो निश्चय ही मैं नरक में जाऊँगी और दूसरे वृक्ष देवी-देवता भी मेरा उदाहरण दे अन्य भिक्षुओं की हत्या कर सकते हैं। साथ ही "इस भिक्षु का शास्ता अवश्य कोई होगा" यह सोचकर उसने भिक्षु के प्राण नहीं लिए और रोती-बिलखती अपने पुत्र को साथ लेकर वहाँ पहुँच गई जहाँ बुद्ध धर्म-चर्या कर रहे थे। शास्ता को प्रणाम कर वह एक तरफ बैठ गई। शास्ता ने उसके बारे में पूछा तो उसने सविस्तार अपनी कहानी सुनाई। साथ ही उसने यह भी विस्तार से बता दिया कि किस प्रकार भिक्षु के प्रति उसके मन में अपार क्रोध आ गया था पर उसने अपने क्रोध पर संयम कर लिया था।

बुद्ध उस देवी से बहुत प्रसन्न हुए तथा उसे साधुवाद दिया कि क्रोध न करके उसने सर्वोच्च कर्म किया है। जो व्यक्ति इस प्रकार क्रोध को रोक लेता है वही सच्चा सारथी कहलाता है मानो उसने भटके हुए रथ को काबू में कर लिया हो। अन्य सारथी नहीं कहे जा सकते, वे तो मानों रथ के मात्र रज्जु को पकड़े हुए हों।





गाथा: अक्कोधेन जिने कोधं, असाधुं साधुना जिने ।
जिने कदरियं दानेन, सच्चेनालीकवादिनं ।।223।।

अर्थः साधक को चाहिए कि क्रोध को अक्रोध से, असाधु को सदव्यवहार से, कंजूस को दान से तथा असत्यभाषी को सत्यभाषण से जीते।

सच्चा विजयी कौन है ?
उपासिका उत्तरा की कथा

स्थान : वेणुवन, राजगृह

उत्तरा, पूर्ण नाम के एक किसान की पुत्री थी। एक दिन पूर्ण और उसकी पत्नी ने भन्ते सारिपुत्र को भोजन दान दिया जो गहरी समाधि से उठे थे। इस पुण्य कर्म से वे अचानक बहुत ही धनवान हो गए। पूर्ण को अपने खेत में बहुत सारा सोना मिला और राजा ने उसे सार्वजनिक रूप से "बहुधनश्रेष्ठी" घोषित कर दिया। एक बार पूर्ण और उसके परिवार ने सात दिनों तक बुद्ध और भिक्षुसंघ को भोजन दान दिया और सातवें दिन बुद्ध के धर्म-प्रवचन को सुनकर परिवार के तीनों सदस्य स्रोतापति प्राप्त कर गए। बाद में उत्तरा का विवाह एक धनी व्यक्ति सुमन के पुत्र से कर दिया गया। वह परिवार बुद्ध का उपासक नहीं था, उत्तरा वहाँ खुश नहीं रहती थी। अत: उसने अपने पिता को संदेश भेजा, "आपने मुझे इस कारागार में क्यों डाल दिया है ? यहाँ किसी भिक्षु के दर्शन नहीं होते हैं और न ही किसी भिक्षु को मैं कोई दान कर पाती हूँ।" उसके पिता बहुत दु:खी हुए और उन्होंने उत्तरा के पास पन्द्रह हजार कार्षापण भेजा। इस पैसे से, अपने पति की आज्ञा लेकर, उत्तरा ने एक अति सुन्दर राज नर्तकी को, अपने पति की सेवा-सुश्रुषा के लिए नियुक्त कर दिया। इस प्रकार यह तय हुआ कि वह राज नर्तकी, सिरिमा, उत्तरा की जगह पत्नी के रूप में रहेगी।

इस अवधि में उत्तरा ने बुद्ध और उनके भिक्षु संघ को भोजन दान दिया। पन्द्रहवें दिन जब वह रसोईघर में भोजन बना रही थी, उसका शरीर पसीने से तर-बतर तथा गंदा हो गया था, तब उसके पति ने उसे अपने शयन-कक्ष की खिड़की से देखा और मुस्कुरा दिया। वह अपने आप से कहने लगा, "यह कितनी मूर्ख है ! जीवन का आनन्द कैसे लिया जाता है यह भी नहीं जानती है। केवल भिक्षुओं को दान देने में ही व्यस्त रहती है। सिरिमा ने उसे मुस्कुराते हुए देखा और यह भूल गई कि वह उत्तरा की जगह रखैल है। उसके अन्दर प्रबल ईर्ष्या की ज्वाला उठ गई और वह अपने आप को रोक नहीं सकी। वह रसोई घर में गई और एक कलछुल उबलते हुए घी को लेकर उत्तरा के शरीर पर डालने के उद्देश्य से बढ़ी। उत्तरा ने उसे आते हुए देखा, पर उसने अपने अन्दर सिरिमा के प्रति विद्वेष उठने नहीं दिया। उसने चिंतन किया कि सिरिमा के कारण ही वह पन्द्रह दिनों तक शास्ता के प्रवचन सुन सकी थी तथा भोजन-दान एवं अन्य पुण्य कर्म कर सकी थी। इसलिए वह सिरिमा के प्रति पूर्णत: कृतज्ञता के भाव से भरी हुई थी। सिरिमा उसके बहुत ही निकट आ गई थी और उसके शरीर पर घी डालने जा रही थी तब उत्तरा ने अपने आप से कहा, "अगर मेरे ह्रदय में सिरिमा के प्रति जरा भी विद्वेष हो तो यह खौलता हुआ घी मेरे शरीर को जला दे और अगर मेरे ह्रदय में उसके प्रति तनिक भी बुरी भावना न हो तो यह घी मुझे नहीं जलावे।" खौलते हुए घी से उसका शरीर तनिक भी नहीं जला।

तब सिरिमा ने सोचा कि संभवत: घी ठंढ़ा हो गया था। अत: वह दोबारा गर्म घी लाने जा रही थी कि उत्तरा के दासियों ने उसे पकड़ लिया और उसे मारने-पीटने लगीं। उत्तरा ने सिरिमा को उनसे बचाया और उसके शरीर पर औषधि लगा, मालिश कर, स्नान कराकर उसका उपचार कराया।

सिरिमा को अपनी गलती का भान हुआ और वह उत्तरा के चरणों पर गिर क्षमा-प्रार्थना करने लगी। उत्तरा ने उससे कहा, "तुम मेरे पिता से क्षमा माँगो" सिरिमा पूर्ण से क्षमा माँगने जाने लगी तब उत्तरा ने कहा, "पूर्ण तो मात्र शरीर देने वाले पिता हैं। जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त कराने वाले पिता तो बुद्ध हैं।" तब उत्तरा के सुझाव के अनुसार सिरिमा ने बुद्ध और भिक्षु संघ के लिए भोजन तैयार किया और दूसरे दिन उचित भेंट देकर एक तरफ बैठ गई। भोजनोपरान्त सिरिमा बुद्ध के चरणों में गिर गई। बुद्ध ने उत्तरा तथा सिरिमा के बीच का वृत्तांत सुना। सिरिमा ने अपना संपूर्ण दोष स्वीकार करते हुए बुद्ध से प्रार्थना की कि वे क्षमा-दान दें अन्यथा उत्तरा उसे माफ नहीं करेगी। तब शास्ता ने उत्तरा से पूछा कि जब सिरिमा उसके शरीर पर गर्म घी डाल रही थी तब उसे किस प्रकार की अनुभूति हो रही थी। उत्तरा ने उत्तर दिया, "भन्ते ! मैं सिरिमा के प्रति कृतज्ञता से इतनी दबी हुई थी कि मैंने निश्चय कर लिया था कि अपना संयम नहीं खोऊँगी, उस पर क्रोध नहीं करूँगी और न ही उसके प्रति अपने अन्दर दुर्भावना आने दूँगी। मैंने उसके प्रति पूर्णत: प्रेम, दया, करुणा तथा मैत्री का भाव रखा।" बुद्ध ने कहा, " अति सुन्दर ! अति सुन्दर !! साधुवाद ! साधुवाद !! उसके प्रति दुर्भावना रोककर तुमने उस पर विजय प्राप्त कर लिया है जिसने तुमसे घृणा करते हुए तुम्हें हानि पहुँचायी थी। असत्यभाषी को सत्यवचन द्वारा तथा कंजूस को दान के द्वारा जीतने का प्रयत्न करना चाहिए।"





गाथा: सच्चं भणे न कुज्झेय्य, दज्जाप्पस्मिं पि याचितो ।
एतेहि तीहि ठानेहि, गच्छे देवान सन्तिके ।।224।।

अर्थ: सदा सत्य बोलना, क्रोध न करना, किसी सत्पात्र को अल्प अंश दान देना- ये तीनों देवलोक की ओर ले जाते हैं।

स्वर्ग जाने के तीन रास्ते
महामोग्गलान के प्रश्नों की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

यह गाथा बुद्ध ने महामोग्गलान के प्रश्नों के उत्तर में कही थी।

एक बार स्थविर महामोग्गलान देवलोक गए और वहाँ अनेक देवों को सुन्दर-सुन्दर प्रासादों में रहते हुए देखा। उन्होंने देवों से प्रश्न किया कि किन पुण्य कारणों से उन्होंने देव-लोक में जन्म लिया था। सभी देव-देवियों ने उन्हें भिन्न-भिन्न उत्तर दिए। उनमें से एक का देवलोक में पुनर्जन्म इसलिए नहीं हुआ था कि उसने बहुत दान-पुण्य किया था या बुद्ध के धर्म का श्रवण किया था; अपितु इसलिए कि उसने सदैव सच बोला था। दूसरी एक देवी थी। उसका देवलोक में पुनर्जन्म इसलिए हुआ था कि अपने पूर्व जन्म में जब वह एक दासी थी, अपने स्वामी के प्रति कभी क्रोध नहीं आने देती थी यद्यपि उसका स्वामी उसे अक्सर पीटा करता था तथा गाली दिया करता था। घृणा भावना त्यागने के कारण उसका देवलोक में पुनर्जन्म हुआ था। उस देव लोक में अन्य देवी-देवता ऐसे भी थे जिन्होंने पुण्य का अल्प मात्र कार्य किया था जैसे किसी भिक्षु को चूसने के लिए गन्ना दिया था, एक फल या कोई सब्जी दान में दी थी। फिर भी उन्होंने देव लोक में जन्म लिया था।

देव लोक से लौटने के बाद स्थविर महामोग्गलान बुद्ध के पास गए और उनसे पूछा कि क्या मात्र सत्य वचन का पालन करने से, क्रोध न करने से या फल या सब्जी का अल्पमात्र सा दान देने से कोई देव लोक जा सकता है। बुद्ध ने उन्हें उत्तर देते हुए समझाया,"पुत्र ! तुम यह प्रश्न क्यों कर रहे हो ? क्या तुमने स्वयं अपनी आँखों से नहीं देखा है या अपने कानों से देवताओं का कथन नहीं सुना है ? तुम्हें कोई शंका नहीं होनी चाहिए। पुण्य के छोटे-छोटे कार्य भी देवलोक को ले जाते हैं।" तब बुद्ध ने यह गाथा कही।





गाथा: अहिंसका ये मुनयो, निच्चं कायेन संवुता ।
ते यन्ति अच्चुतं ठानं, यत्थ गन्त्वा न सोचरे ।।225।।

अर्थ: शरीर से सदैव संयमित जीवन व्यतीत करने वाले अहिंसाव्रतधारी साधक वीतरागी हो जाते हैं और उनका आवागमन समाप्त हो जाता है।

अमृत पथ पर कौन जायेगा ?
ब्राह्मण की कथा जो पूर्व जन्म में बुद्ध के पिता थे

स्थान : अंजनवन

एक बार बुद्ध अपने कुछ शिष्यों के साथ भिक्षाटन हेतु साकेत नगरी में प्रवेश किया। एक बूढ़ा ब्राह्मण उनको देखकर उनके निकट आया और उनसे बोला, "पुत्र, इतने वर्ष तुम कहाँ रहे कि अपने माता-पिता से मिलने कभी नहीं आए ? मेरे साथ आओ, तुम्हें तुम्हारी माँ से मिलाता हूँ।" ऐसा कहकर उसने बुद्ध को अपने घर में निमंत्रित किया। घर पहुँचने पर ब्राह्मण की पत्नी ने भी बुद्ध से वही बात कही और अपने बच्चों से बुद्ध का परिचय "तुम्हारे अग्रज भ्राता" के रूप में कराया और उनसे प्रणाम करवाया। उस दिन से वे ब्राह्मण-युग्म बुद्ध को प्रतिदिन भोजन-दान देते थे और प्रतिदिन धर्मश्रवण कर कुछ दिनों में उन्होंने अनागामी फल प्राप्त कर लिया। भिक्षुगण आश्चर्यचकित थे कि उस ब्राह्मण-युग्म ने बुद्ध को पुत्र कहकर क्यों संबोधित किया और बुद्ध ने भी स्वीकार कर लिया। शंका-समाधान के लिए उन्होंने बुद्ध से यह प्रश्न पूछ लिया। तब बुद्ध ने उन्हें समझाया, "भिक्षुओं, उन्होंने मुझे पुत्र कहकर संबोधित किया क्योंकि पन्द्रह सौ पूर्व जन्मों में मैं उन दोनों का पुत्र या भतीजा था। इस प्रकार तीन हजार जन्मों में इन्होंने मुझे पुत्र की तरह प्रेम से पाला पोसा है।" शास्ता ने यह गाथा भी कही, "ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जिन्हें देखते ही उनमें मन रम जाता है, चित्त प्रसन्न और सरल हो जाता है। जिस आदमी को इस जन्म में पहले कभी नहीं देखा है, ऐसे आदमी में पूर्व जन्मों में अभूतपूर्व प्रेम होने के कारण उसमें स्वतः ही श्रद्धा और विश्वास प्रकट हो जाता है।" बुद्ध साकेत में उस ब्राह्मण-युग्म के पास तीन महीने रुके रहे और इस अवधि में वह ब्राह्मण-युग्म अर्हत्व को प्राप्त हो गया और फिर परिनिर्वाण भी। देहपात के बाद नागरिकों ने उन दोनों का एक साथ दाह-संस्कार कर दिया। शास्ता भी अपने शिष्यों के साथ इस शव यात्रा में शामिल हुए तथा श्मशान घाट पर एक चबूतरे पर बैठ गए। शव यात्रा में शामिल कुछ लोग बुद्ध को लौकिक पुरुष की तरह समझाने लगे कि उनके शरीर त्याग पर दुःखी न हों। बुद्ध ने उन्हें ऐसा कहने से मना नहीं किया; वरन् उन्हें बताया, "मनुष्य का जीवन-काल बहुत छोटा है। कोई कितना जीयेगा ? सौ वर्ष ? उसके बाद तो उसे मरना ही है। जो इससे अधिक जीता है - बुढ़ापा उसका शरीर शिथिल कर देता है।"

कुछ भिक्षुओं ने, यह नहीं जानते हुए कि ब्राह्मण पति-पत्नी ने परिनिर्वाण प्राप्त कर लिया था, बुद्ध से पूछा कि उनका पुनर्जन्म कहाँ हुआ था। उन्हें बुद्ध ने बताया, "ऐसे अशैक्ष्य मुणिगण पुर्नजन्म धारण नहीं करते। ऐसे सिद्ध पुरुष तो निर्वाण को प्राप्त होते हैं।"





गाथा: सदा जागरमानानं, अहोरत्तानुसिक्खिनं ।
निब्बाणं अधिमुत्तानं, अत्थं गच्छन्ति आसवा ।।226।।

अर्थ: जो सतत जाग्रत हैं,अपने आप को अनुशासित करने तथा दिन-रात अध्ययन करने के प्रति समर्पित कर दिया है, जो निर्वाण के साधक हैं, उनके चित्तविकार विनष्ट हो जाते हैं।

अमृत पथ पर सतत् जाग्रत रहें
पूर्णा दासी की कथा

स्थान : गृधकूट पर्वत, राजगीर

राजगृह में पूर्णा नाम की एक दासी रहती थी । एक दिन उसे कूटने के लिए बहुत सारा धान दिया गया। वह देर रात एक लालटेन जला कर कूटती रही। वह बहुत थक गई थी। अतः थोड़ा सुस्ता लेने के लिए अपने झ ोपड़ी से बाहर निकली तथा हवा का आनंद लेने लगी। पसीने से तर-बतर थी। तभी उसने देखा कि आयुष्मान दब्ब मल्लपुत्र कुछ भिक्षुओं को मार्ग प्रकाश दिखा रहे थे, जो गृधकूट पर्वत पर बुद्ध के संदेश सुनकर लौट रहे थे । उस प्रकाश में पूर्णा ने उन भिक्षुओं को अपने निवास पर लौटते हुए देखा । उसने अपने आप सोचा, "जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं अपने काम से बोझिल हूँ; अतः इतनी रात बीत जाने पर भी सो नहीं सकती हूँ । क्या कारण है कि आदरणीय भिक्षुगण सो नहीं रहे हैं ? ऐसा विचारकर वह निम्न निष्कर्ष पर पहुँची, "अवश्य ही कोई भिक्षु बीमार है या किसी साँप-बिच्छु ने काट लिया है ।"

सुबह होने पर पूर्णा ने चावल के कुछ दाने लिये, उसे पानी में भिंगोया और फिर आग में सेंककर रोटी बना दी। तब उसने सोचा कि स्नान हेतु जाते समय रास्ते में इसे खाऊँगी। ऐसा सोचकर उसने रोटी को अपने वस्त्र में बाँध लिया और जल-पात्र हाथ में लेकर स्नान-घाट की ओर चल पड़ी ।

बुद्ध भी उसी मार्ग से भिक्षाटन हेतु गाँव की ओर चल पड़े। जब पूर्णा ने बुद्ध को देखा तो अपने आप से कहा, "कई दिन ऐसा हुआ है कि बुद्ध के दर्शन हुए हैं पर उस दिन दान देने के लिए मेरे पास कुछ नहीं था, कभी ऐसा भी हुआ कि मेरे पास दान देने के लिए तो था पर उस दिन बुद्ध के दर्शन ही नहीं हुए आज सिर्फ बुद्ध के दर्शन ही नहीं हो रहे हैं, बल्कि आज देने के लिए भी मेरे पास कुछ है। अगर वे इस विचार के बिना इसे स्वीकार कर लेंगे कि यह स्वादिष्ट है या नहीं तो फिर मैं इसे उन्हें समर्पित कर दूँगी।" इसलिए अपने जल-पात्र को एक तरफ रखते हुए, उसने बुद्ध को साष्टांग प्रणाम किया और उनसे कहा, "भन्ते, कृपया इस तुच्छ खाद्य -पदार्थ को स्वीकार कीजिए और मुझे आशीर्वाद दीजिए" बुद्ध ने आनन्द की ओर देखा और उन्होंने अपने वस्त्र में से कीमती भोजन-पात्र बुद्ध को दे दिया जिसे किसी राजा ने बुद्ध को दान में दिया था। बुद्ध ने उस पात्र में पूर्णा का दान स्वीकार किया। जब पूर्णा ने बुद्ध को भोजन-दान दे दिया तब उसने उन्हें पुनः प्रणाम कर कहा, "भन्ते, आपके द्वारा प्राप्त सत्य धर्म में मुझे भी भागी बनावें।" "तथास्तु", बुद्ध ने कहा। फिर बुद्ध ने अपने आप से पूछा, "इस महिला के मन में क्या विचार थे।" यह देखकर कि उसके मन में क्या विचार थे बुद्ध ने आनन्द की ओर दृष्टि की; स्थविर आनन्द ने चीवर बिछा दिया और बुद्ध ने उस पर बैठकर अल्पाहार किया। जब अल्पाहार कर लिया तब उन्होंने पूर्णा को सम्बोधित करते हुए उससे पूछा, "पूर्णा, मेरे भिक्षुओं के प्रति तुमने अपने मन में दुर्विचार क्यों रखा ?" भन्ते ! मैंने आपके भिक्षुओं के प्रति कोई भी दुर्विचार नहीं रखा।" "तब यह बताओ कि तुमने मेरे भिक्षुओं को देखा था तो क्या कहा था ?" "भन्ते ! मेरी सोच बिल्कुल स्पष्ट थी। मैंने अपने आप से सोचा, मैं तो अपने काम के बोझ से बोझिल होने के कारण सो नहीं पाती हूँ, परन्तु ऐसा क्या है कि ये भिक्षुगण भी सो नहीं पा रहे हैं। अवश्य ही कोई भिक्षु, जो यहाँ निवास करता है, वह बीमार है या किसी साँप-बिच्छु ने उसे काट लिया है।" बुद्ध ने उसके कथन को सुना और उससे कहा, "पूर्णा ! तुम इसलिए नहीं सो पा रही हो क्योंकि तुम कष्ट में हो। मेरे भिक्षु सतत् जाग्रत अवस्था में हैं, अतः सो नहीं पाते ।"





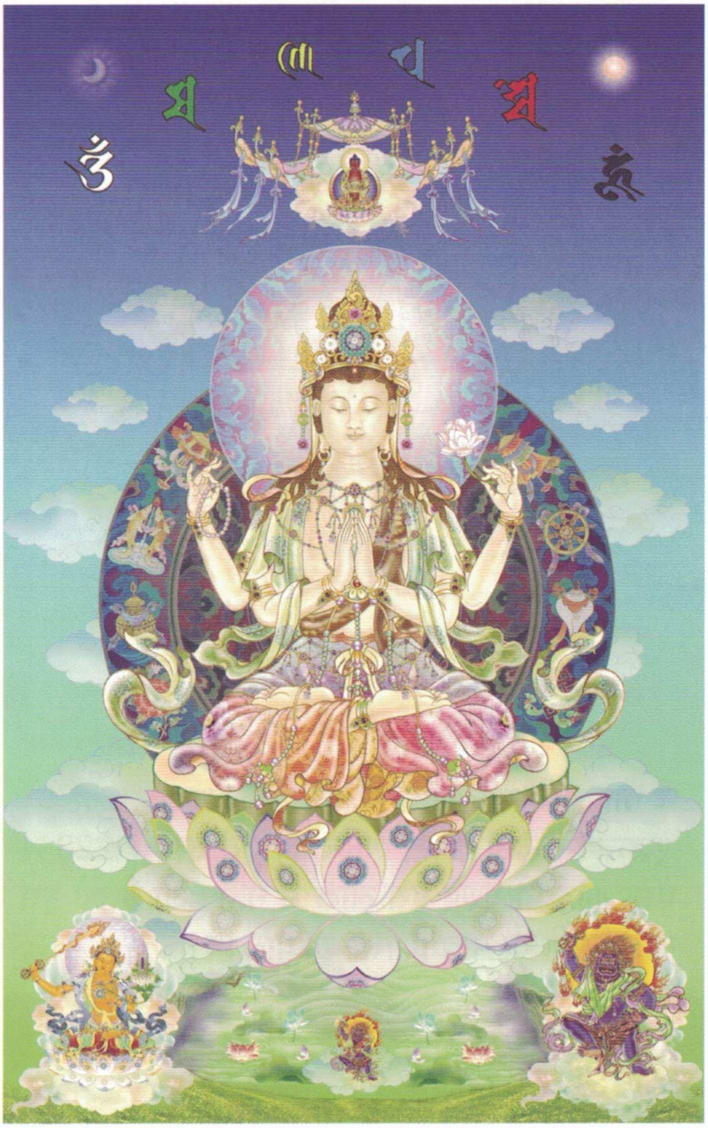
गाथा: पोराणमेतमतुल नेतं, अज्जतनामिव ।
निन्दन्ति तुण्हीमासीनं, निन्दन्ति बहुभाणिनं ।
मितभाणिनं पि निन्दन्ति, नत्थि लोके अनिन्दितो ।।227।।

अर्थ: अतुल ! यह तो बहुत पुरानी बात है। तुम आज की कोई नई बात नहीं कह रहे हो। चुप रहने वाले की निन्दा होती है और उसी प्रकार अधिक बोलने वाला भी निन्दित होता है। ऐसा कोई नहीं है जिसकी इस लोक में निन्दा नहीं होती हो।

निंदा रहित पुरुष कहाँ मिलेगा ?
उपासक अतुल की कथा
स्थान : जेतवन , श्रावस्ती

उपासक अतुल श्रावस्ती में रहता था। उसके साथ पाँच सौ अन्य उपासकों का संघ भी था। एक दिन वह उन पाँच सौ उपासकों को साथ लेकर धर्मश्रवण के लिए जेतवन विहार जा पहुँचा। भन्ते रेवत से धर्म श्रवण के उद्देश्य से उसने भन्ते रेवत को प्रणाम किया और आदर के साथ एक ओर बैठ गया। उस समय भन्ते रेवत एकान्त साधना में लीन थे और एकान्त में आनन्दित हो रहे थे जैसे एक सिंह एकान्तवास में आनन्द की अनुभूति करता है । इसलिए उन्होंने अतुल को कुछ नहीं कहा।

"इन भन्ते को कहने के लिए कुछ नहीं है, " अतुल ने सोचा। क्रुद्ध होकर, अपने आसन से उठा, भन्ते सारिपुत्र के पास गया और एक तरफ सादरपूर्वक खड़ा हो गया। "किस प्रयोजन से मेरे पास आए हो ?" स्थविर सारिपुत्त ने पूछा। अतुल ने उत्तर दिया, "भन्ते ! मैं इन उपासकों को धर्म श्रवण हेतु ले आया और भन्ते रेवत के पास गया, लेकिन उनके पास मुझे बताने के लिए कुछ नहीं था। वे मौन रहे, अतः मुझे उन पर क्रोध आ गया और अब मैं आपके सम्मुख आ गया हूँ। कृपया मुझे धर्म की शिक्षा दें।" "ठीक है, उपासक", स्थविर सारिपुत्र ने कहा।



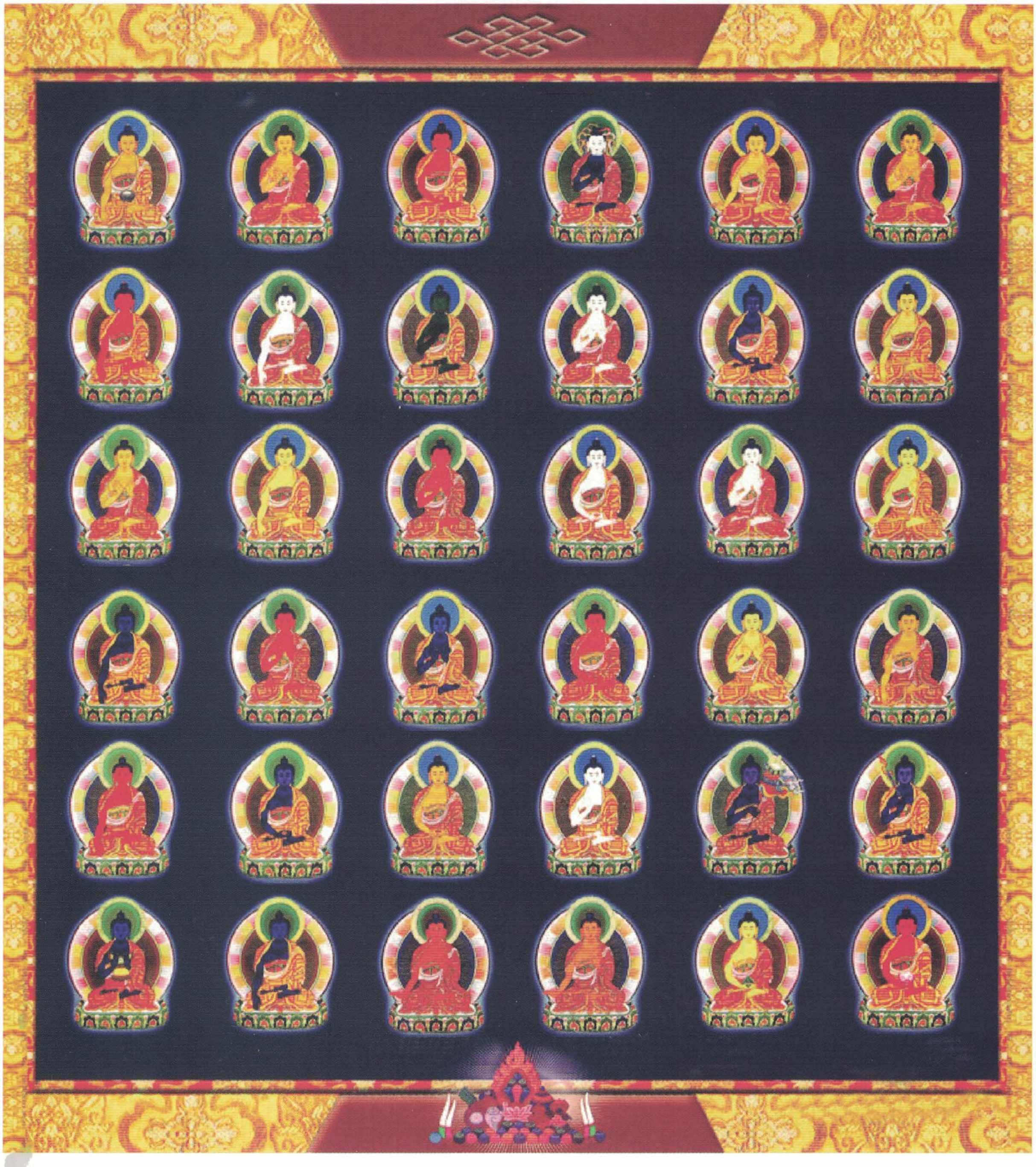


गाथा: न चाहु न च भविस्सति, न चेतरहि विज्जति ।
एकन्तं निन्दितो पोसो, एकन्तं वा पसंसितो ।।228।।

अर्थ: ऐसा कोई भी पुरुष इस लोक में नहीं हुआ है जो इस लोक में मात्र निन्दा या मात्र प्रशंसा का पात्र हो।

न था, न है, न होगा : मात्र निंदनीय या मात्र प्रशंसनीय
उपासक अतुल की कथा

"बैठ जाओ" और उन्होंने तुरंत ही उन्हें अभिधर्म सम्बन्धी बहुत सारी कथा सुना डाली। उपासक ने सोचा, "अभिधर्म अति गूढ़ प्रतीत होता है, और भन्ते ने मात्र इसे ही मुझे विस्तार से समझाया है; उनसे क्या लाभ?" अतः क्रुद्ध होकर अपने उपासकों के समूह के साथ वह स्थविर आनन्द के पास पहुँचा। स्थविर आनन्द ने पूछा, "उपासक क्या बात है ?" अतुल ने उत्तर दिया, "भन्ते ! हम धर्मश्रवण हेतु स्थविर रेवत के पास गए, लेकिन उन्होंने एक शब्द का भी प्रवचन नहीं दिया। इससे क्रुद्ध होकर हम लोग स्थविर सारिपुत्र के पास गए और उन्होंने विस्तार से हमें सिर्फ अभिधर्म ही गहराई से समझाया।



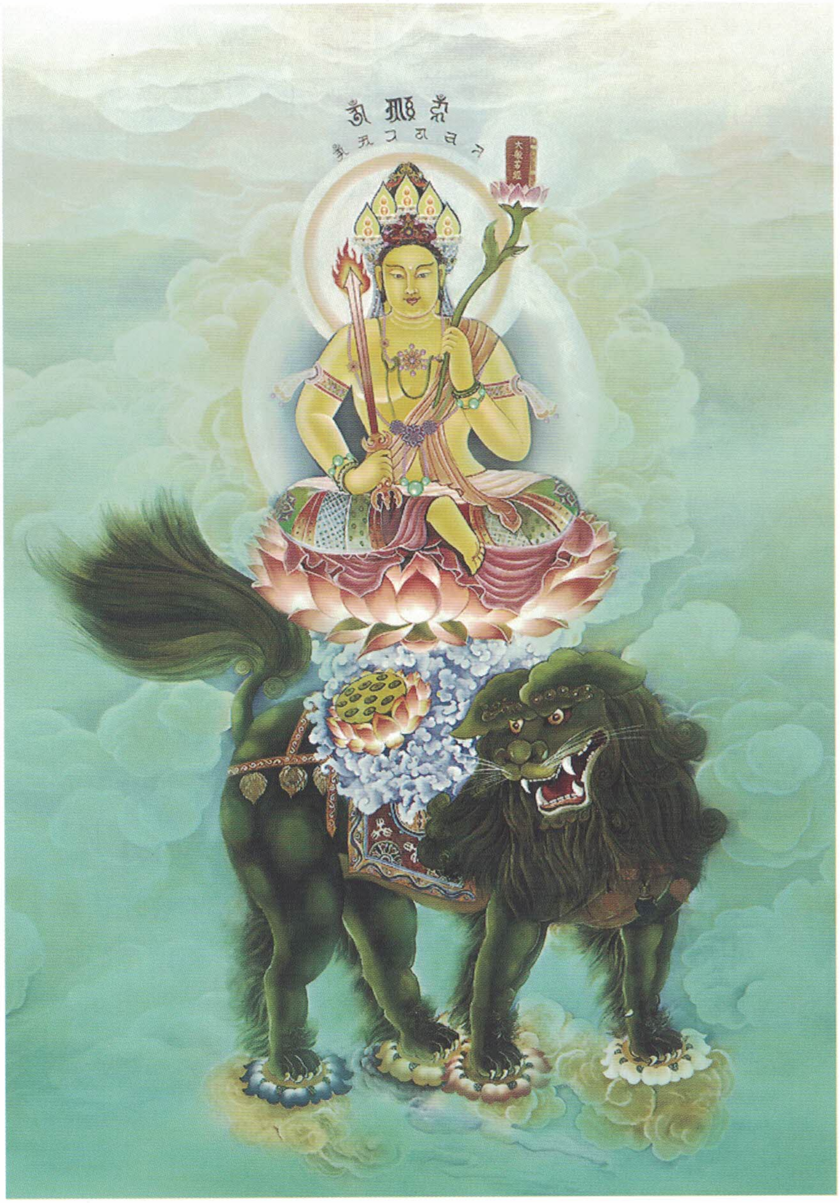


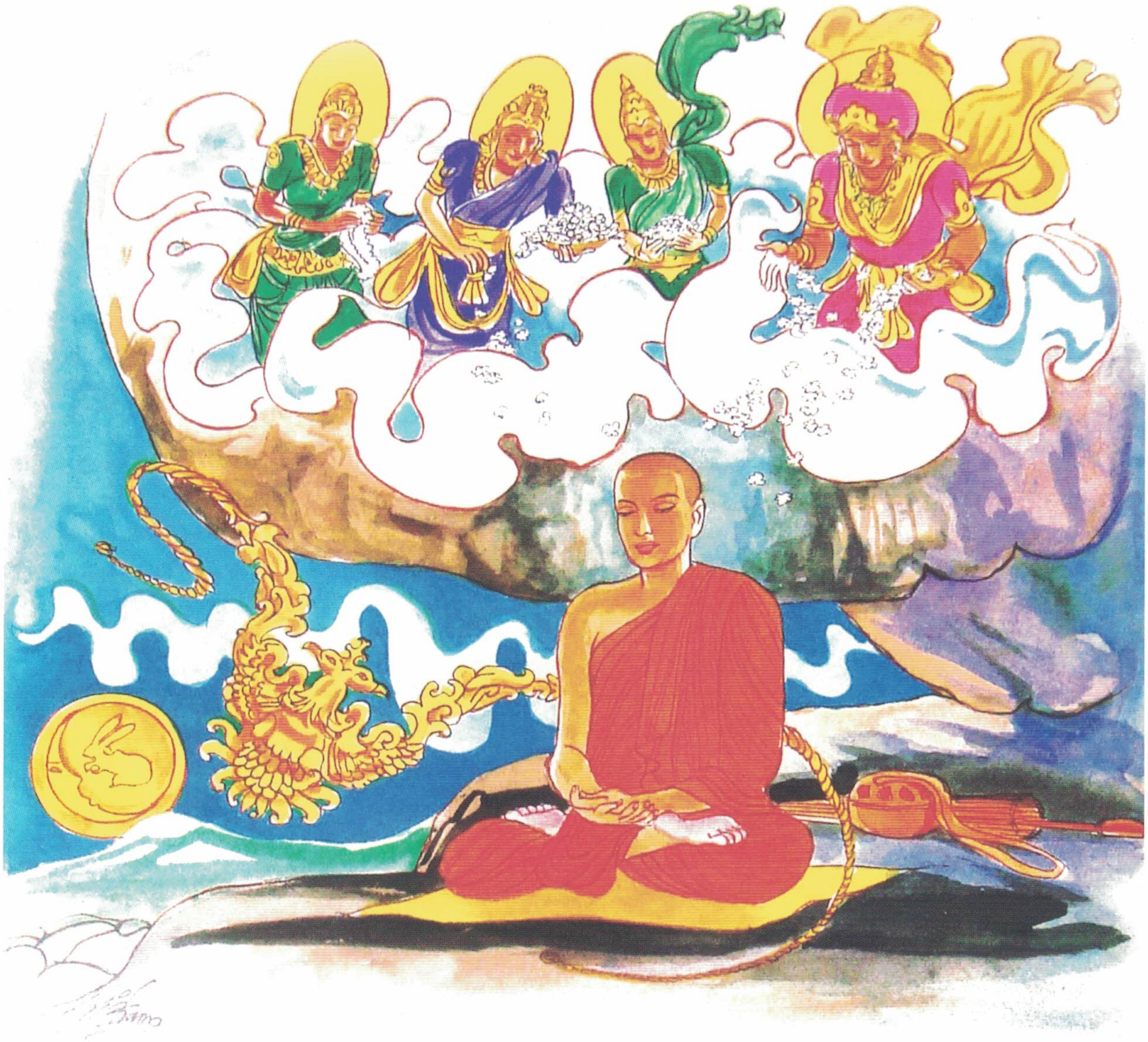
गाथा: यं चे विञ्ञू पसंसन्ति, अनुविच्च सुवे सुवे ।
अच्छिद्दवुत्तिं मेधाविं, पञ्ञासीलसमाहितं ।।229।।

अर्थ: वैसे पंडित जन निश्छल एवं पवित्र चरित्र वाले मेधावी एवं प्रज्ञाशील पुरुष की प्रतिदिन प्रशंसा किया करते हैं।

लोग कसौटी पर परख कर ही प्रशंसा करते हैं
उपासक अतुल की कथा

उनसे भी हमें कोई लाभ नहीं हुआ, और उनसे भी हम सभी क्रुद्ध हो गए और अब आपसे धर्मकथा सुनने आये हैं। भन्ते ! हमें धर्मकथा सुनाइए।" "ठीक है" भन्ते आनन्द ने उत्तर दिया, "बैठो और सुनो" तत्पश्चात् स्थविर आनन्द ने उन्हें संक्षेप में और बहुत ही सरल ढंग से धर्म कथा सुनाई। लेकिन वे भन्ते आनन्द से भी क्रुद्ध हो गए और बुद्ध के पास जाकर, उन्हें सादर प्रणाम कर एक ओर आदरपूर्वक बैठ गए। बुद्ध ने उनसे पूछा, "उपासकगण ! तुम लोग क्यों आए हो ?" "धर्मचर्या सुनने हेतु भन्ते "लेकिन तुमने तो धर्मश्रवण कर लिया है " "आदरणीय भन्ते ! पहले हम लोग रेवत भन्ते के पास गए, उन्होंने हमें कोई शिक्षा न दी; वे मौन रहे। उनसे क्रुद्ध होकर हम लोग स्थविर सारिपुत्त के पास गए और उन्होंने अभिधर्म का विस्तार से विवेचन किया पर उनके प्रवचन को समझने में हम लोग असमर्थ रहे, उन पर क्रुद्ध होकर हम लोग स्थविर आनन्द के पास गए। भन्ते आनन्द ने हमें बहुत ही संक्षेप में धर्म-कथा सुनायी, इससे भी हम लोग सन्तुष्ट न हुए और अब आपसे प्रवचन सुनने आए हैं।"





गाथा: निक्खं जम्बोनदस्सेव, को तं निन्दितुमरहति ।
देवा पि नं पसंसन्ति, ब्रह्मुना पि पसंसितो ।।230।।

अर्थ: शुद्ध सोने से बने सिक्के की कौन निंदा कर सकता है ?
देवता भी ऐसे साधक की प्रशंसा करते हैं, ब्रह्मा तो करते ही हैं।

देवतागण किसकी प्रशंसा करते हैं ?
उपासक अतुल की कथा

बुद्ध ने उनकी बात सुनी और उत्तर दिया, "अतुल, प्राचीन काल से लेकर आज तक मानव का स्वभाव रहा है कि वह दोष ढूँढ़ निकालता है उसमें जिसने कुछ नहीं कहा है, जिसने विस्तार से कहा है या जिसने संक्षेप में कहा है - अर्थात् मनुष्य सभी में दोष ढूँढ़ ही निकालता है। कोई भी ऐसा नहीं है जो मात्र निंदा का पात्र है, उसी प्रकार कोई ऐसा भी नहीं है जो मात्र प्रशंसा का ही पात्र है। राजा की भी कुछ निंदा करते हैं तो कुछ प्रशंसा। इस विशाल धरती, सूर्य और चन्द्रमा, सर्वज्ञ सम्यक, जो चारों परिषद के बीच बैठ धर्म चर्या करते हैं -उनकी भी कुछ निंदा करते हैं तो कुछ प्रशंसा। अज्ञानी पुरुष निंदा करते हैं या प्रशंसा - दोनों का ही महत्व नहीं है, लेकिन विद्वान और ज्ञानी पुरुष जब निंदा या प्रशंसा करते हैं तब वस्तुतः उस पुरुष की सचमुच ही निंदा या प्रशंसा होती है।





गाथा: कायप्पकोपं रक्खेय्य, कायेन संवुतो सिया ।
कायदुच्चरितं हित्वा, कायेन सुचरितं चरे ।।231।।

अर्थ: शरीर के दुराचरण से बचना चाहिए, शरीर को संयम में रखना चाहिए, शरीर के दुराचार को छोड़ शरीर के सदाचार का आचरण करना चाहिए।

शरीर से सुकर्म करें
षड्भिक्षुओं की कथा

स्थान : वेणुवन, राजगृह

एक बार वेणुवन में षड्भिक्षुओं के सम्बन्ध में बुद्ध ने इन गाथाओं को कहा था।

एक दिन षड्भिक्षु अपने पैरों में लकड़ी की खड़ाऊँ धारण कर और दोनों हाथों में एक-एक लाठी लेकर पत्थर की एक शिला पर आवाज करते हुए ऊपर-नीचे आ-जा रहे थे। उनकी खटखट आवाज को सुनकर बुद्ध ने आनन्द से पूछा, "आनन्द यह शोर कैसा है ?" भन्ते ने उत्तर दिया, "षड्भिक्षुओं का समूह काठ की खड़ाऊँ पहन कर चल रहा है; यह उनके खड़ाऊँ की आवाज है।" जब बुद्ध ने इसे सुना, तो उन्होंने सभी भिक्षुओं के लिए यह शिक्षाप्रद निर्देश दिया - "भिक्षु को मनसा, वाचा तथा कर्मणा से संयमित रहना चाहिए।" तब उन्होंने ये चार गाथाएं कहीं ।





गाथा: वचीपकोपं रक्खेय्य, वाचाय संवुतो सिया ।
वचीदुच्चरितं हित्वा, वाचाय सुचरितं चरे ।।232।।

अर्थ: वाणी के दुराचरण से बचना चाहिए, वाणी का संयम रखना चाहिए। वाणी के दुराचार को छोड़, वाणी के सदाचार का आचरण करना चाहिए।

वाणी से सुकर्म करें
षड्भिक्षुओं की कथा

टिप्पणी: काया, मन एवं वचन के दोष से बचना चाहिए। इन गाथाओं को बुद्ध ने षड्भिक्षुओं को समझाने के लिए कहा था जिनका व्यवहार भिक्षुओं के अनुकूल नहीं था। बुद्ध ने उन्हें गलत कर्म करने के प्रति सावधान किया। बौद्ध धर्म में नियम कठिन बनाए गए हैं और भिक्षुओं से आशा की जाती है कि वे दृढ़ता से इनका अनुपालन करेंगे।





गाथा: मनोपकोपं रक्खेय्य, मनसा संवुतो सिया ।
मनोदुच्चरितं हित्वा, मनसा सुचरितं चरे ।।233।।

अर्थ: मानसिक दुराचरण से बचना चाहिए, मन पर संयम रखना चाहिए। मानसिक दुराचार को छोड़, मानसिक सदाचार का आचरण करना चाहिए।

मन से सुकर्म करें
षड्भिक्षुओं की कथा

अगर भिक्षु को आध्यात्मिक मार्ग पर प्रगति करना है तो उसे संयमित जीवन जीना ही होगा। जो निर्वाण के मार्ग पर जाना चाहता है उसके लिए सभी छोटी-छोटी बातों का भी बहुत महत्व है क्योंकि मन को संयमित करने से वाणी और कर्म का संयम आसान हो जाता है। इनका उल्लंघन करने से मार्ग में अवरोध खड़े हो





गाथा: कायेन संवुता धीरा, अथो वाचाय संवुता ।
मनसा संवुता धीरा, ते वे सुपरिसंवुता ।।234।।

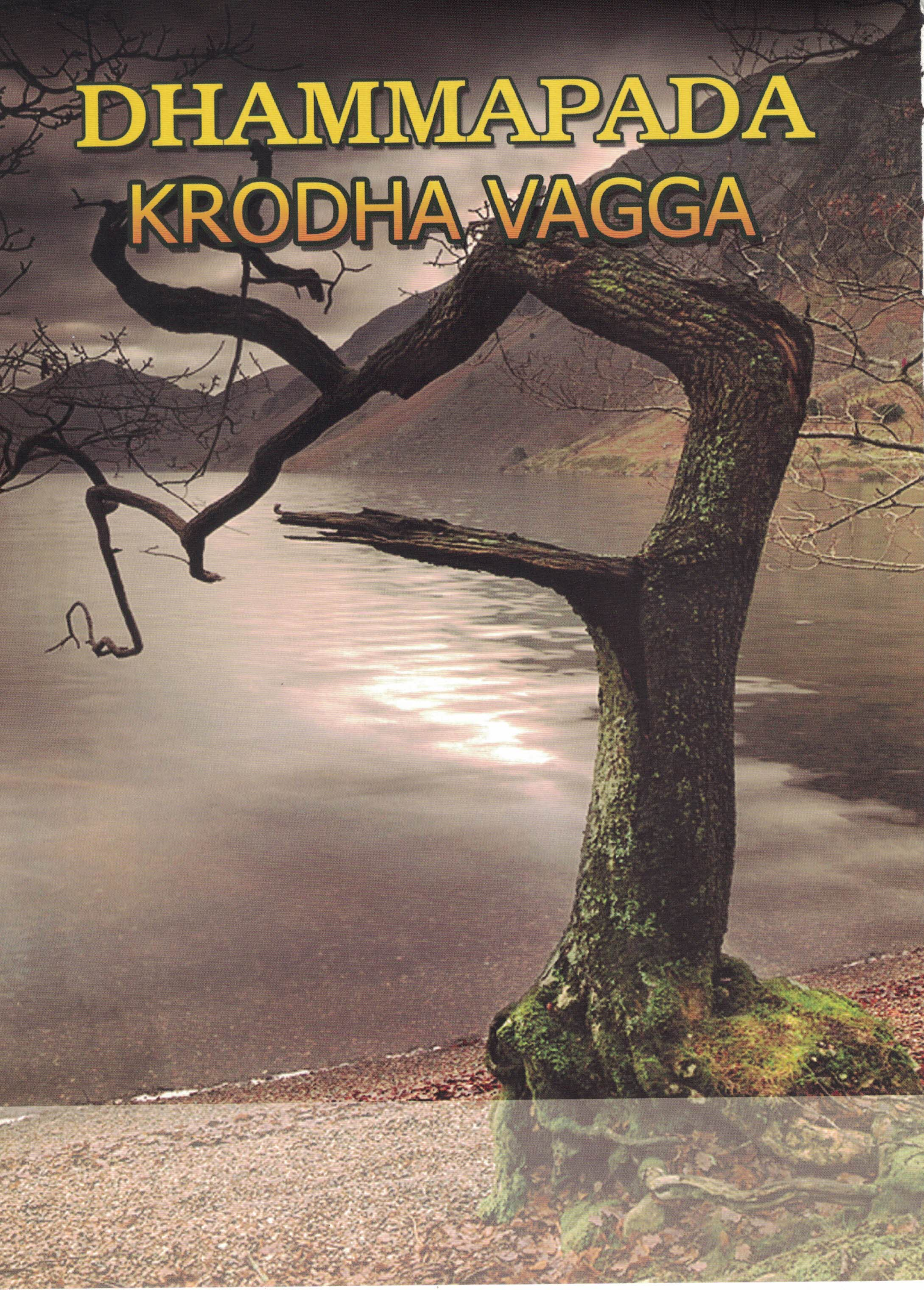
अर्थ: जो प्रबुद्ध व्यक्ति शरीर, वाणी और मन से संयमित हैं, वे ही वस्तुतः पूर्ण रूप से संयमित हैं।

जाते हैं और उसका नैतिक विकास रुक जाता है। इनके अनुपालन का अर्थ है मार्ग पर निरन्तर विकास। ऐसा साधक सांसारिक आनन्दों का त्याग करता है और त्याग का जीवन ही उसे आनन्द देता है।



DHAMMAPADA

KRODHA VAGGA



मन को साफ रखें

धम्मपद

मल वर्ग

गाथा और कथा



मन को साफ रखें

धम्मपद

मल वर्ग

गाथा और कथा

संस्कारक
हृषीकेश शरण

विषय सूची

मल्ल वर्ग



गाथा: पण्डुपलासोव दानिसि, यमपुरिसापि च तं उपट्ठिता।
उय्योगमुखे च तिट्ठसि, पाथेय्यम्पि च ते न विज्जति।।235।।

अर्थ: अब तुम एक वृक्ष के सूखे, पीले पत्ते के समान हो। हवा का पहला झोंका तुम्हें टहनी से अलग कर देगा और तुम गिर जाओगे। यमदूत आकर तुम्हें ले जाने के लिए तैयार खड़े हैं। अब तुम मृत्यु के द्वार पर परलोक की यात्रा पर जाने के लिए खड़े हो और उस यात्रा पर जाने के लिए तुम्हारे पास रास्ते के लिए पुण्य रूपी भोजन भी नहीं है।

यात्रा से पूर्व कुछ तो तैयारी करेंगे ?
पशुवधक के पुत्र की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

जेतवन विहार में निवास के समय बुद्ध ने इन दो गाथाओं को एक पशुवधक के पुत्र के सम्बन्ध में कही थी।

कथा है कि श्रावस्ती में एक कसाई रहता था। वह गायों को मारता था और उनके मांस का सबसे अच्छा भाग अपने खाने के लिए अलग कर लेता था। उसे पकवाता था और फिर अपनी पत्नी और पुत्र के साथ बैठकर खाता था। मांस का बचा हुआ भाग वह बेच देता था। पचपन वर्षों तक वह इस प्रकार गौवध करता रहा। इस काल में, हालाँकि बुद्ध पास के ही विहार में रहते थे पर उसने भोजन का एक भी दाना उन्हें भोजन-दान के रूप में नहीं दिया। जब तक उसे मांस नहीं मिलता था वह भोजन नहीं करता था। एक दिन जब अँधेरा होने वाला था। उसने गौमांस बेचने के बाद उसका एक टुकड़ा अपनी पत्नी को रात के भोजन हेतु पकाने के लिए दिया और स्वयं पास के तालाब में स्नान करने चला गया। स्नान करने के बाद वह भोजन करता।





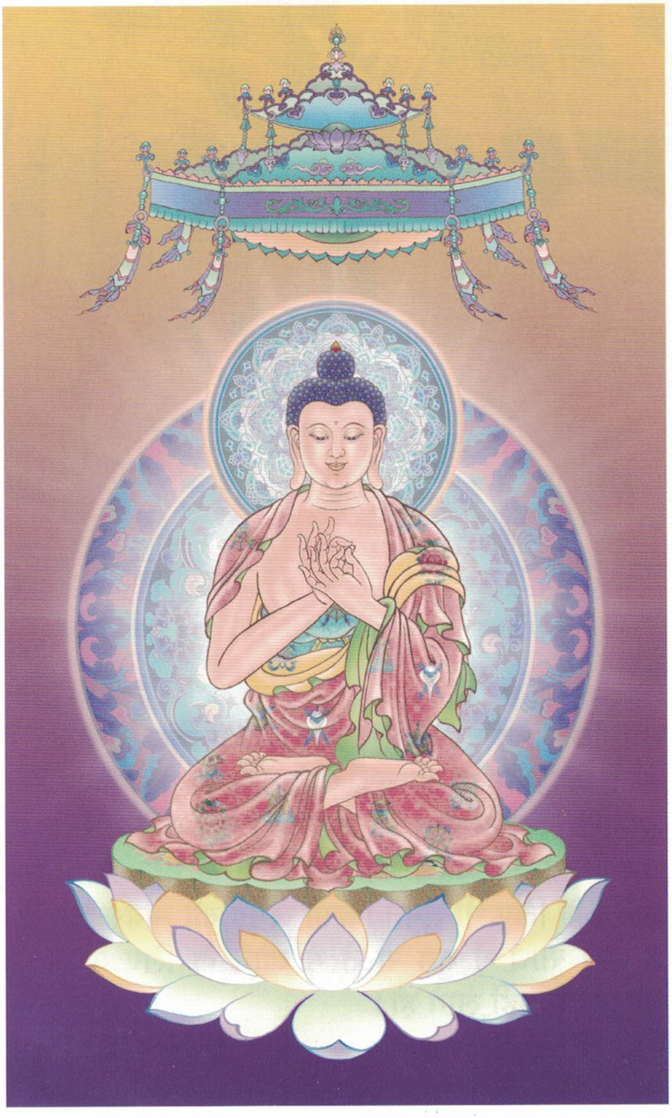
गाथा: सो करोहि दीपमत्तनो, खिप्पं वायम पण्डितो भव।
निद्धन्तमालो अनङ्गणो, दिब्बं अरियभूमिं उपेहिसि।।236।।

अर्थ: आज की परिस्थिति देख-समझकर, अपना दीपक स्वयं बन जाओ, अपने आप को एक द्वीप बना लो और अपनी शरण में चले जाओ। शीघ्र प्रयास प्रारंभ करो, श्रद्धापूर्वक सतत चेष्टा करो और एक ज्ञानी पंडित बनने की कोशिश करो। चित्तविकारों एवं सभी प्रकार के पापों का नाश करके दिव्य आर्यभूमि में पहुँचने की चेष्टा करो।

डूबने से पहले द्वीप पर पहुँच जाइए
पशुवधक के पुत्र की कथा

उसकी अनुपस्थिति में उसका एक मित्र उसके घर आया और उसने मित्र की पत्नी से कहा, "मुझे थोड़ा सा मांस खरीदना है क्योंकि मेरे घर में एक मेहमान आ गए हैं।" "हमारे पास जरा भी गौमांस बिक्री के लिए नहीं है। सिर्फ एक छोटा सा टुकड़ा तुम्हारे मित्र ने अपने खाने के लिए अलग रखा है अभी वह तालाब में स्नान करने गया है।" यह सुन उस मित्र ने धीरे से मांस का टुकड़ा उठाया और भाग गया। स्नान के बाद कसाई लौटा और पाया कि मांस नहीं था। वह बिना मांस के कभी भोजन नहीं करता था। उसने सोचा क्या करे ?

उसके घर के पीछे एक बैल बँधा था। कसाई उस बैल के पास गया, उसके मुँह में अपना हाथ डाला, उसकी जीभ बाहर खींच निकाली और छुरे की तेज धार से उसे काट लिया। कटी हुई जीभ को लेकर घर लौट आया। उसे कोयले पर भून लिया और चावल के ऊपर रख खाने बैठा। उसने चावल का एक कौर खाया और उसके बाद मांस का एक टुकड़ा अपने मुँह में रखा। जैसे ही उसने मांस का टुकड़ा अपने मुँह में रखा, उसकी खुद की जीभ कटकर उस थाली में गिर गई जिसमें वह खाना खा रहा था। उसकी स्थिति वैसी ही हो गई जैसी जीभ काटते समय उस बैल की हो गई थी। मुँह से खून की धारा बहने लगी। वह भागकर घर के आँगन में आ गया। मुट्ठी बाँधे, जमीन पर गिरकर, लोट-पोटकर चीत्कार करता हुआ एक बैल की तरह रंभाने लगा।



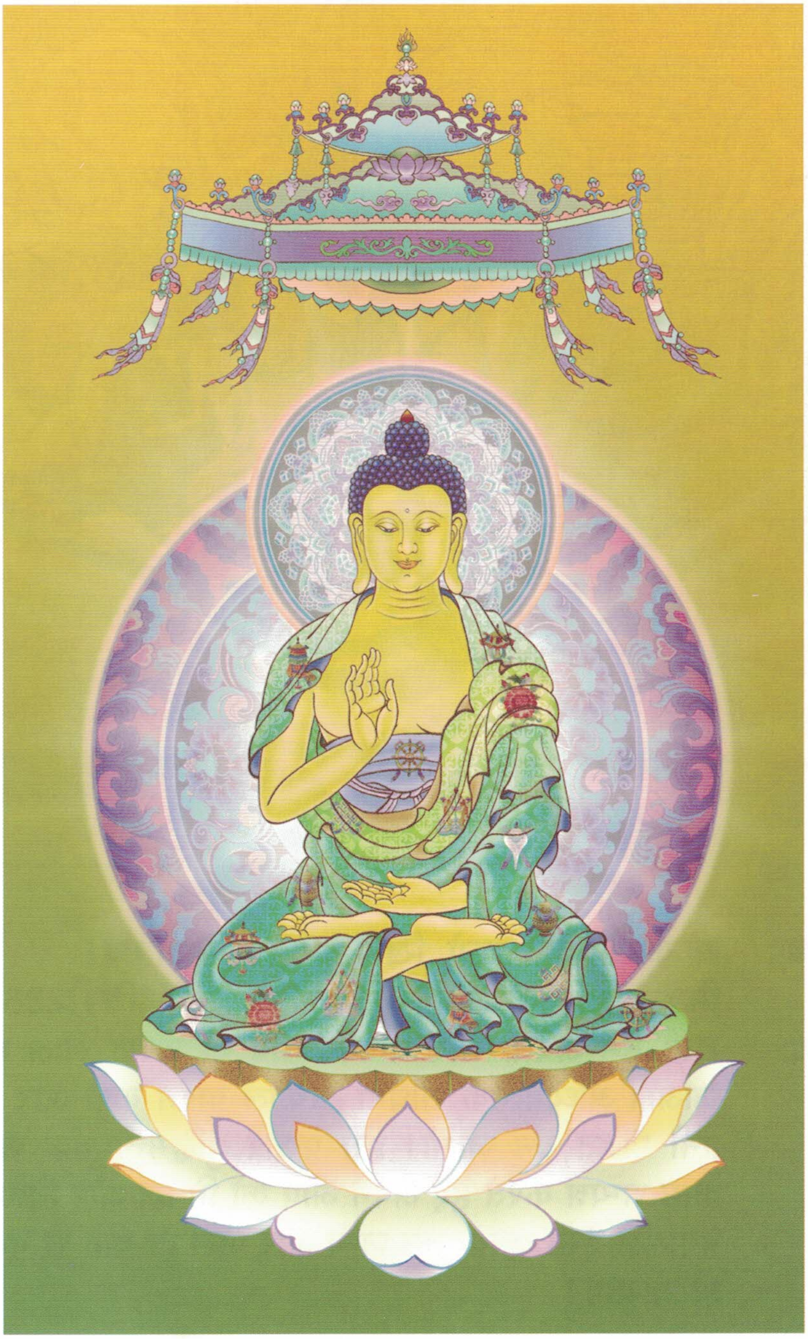


गाथा: उपनीतवयो च दानिसि, संपयातोसि यमस्स सन्तिके।
वासो पि ते नत्थि अन्तरा, पाथेय्यम्पि च ते न विज्जति।।237।।

अर्थ: तुम्हारी आयु समाप्त हो चुकी है। तुम धीरे-धीरे चलकर यम देवता तक पहुँच गए हो। रास्ते के मध्य में थोड़ी देर रुकने के लिए भी तुमने किसी जगह की व्यवस्था नहीं की है और साथ में तुम रास्ते में खाने के लिए अपने साथ भोजन भी नहीं लाये हो।

सावधानी से चलिए : घनघोर अँधेरा है
पशुवधक के पुत्र की कथा

उस समय उसका पुत्र उसको तड़पता हुआ देख रहा था। उसकी माँ ने उसे बुलाकर उससे कहा, "पुत्र, देखो ! एक कसाई को किस प्रकार अपने घुटनों के बल बैल की तरह चित्कार करना पड़ रहा है। यह सजा तुम्हारे माथे भी पड़ने वाली है। मेरे बारे में चिंता मत करो, बस यहाँ से भाग निकलो।" मृत्यु के भय से लड़के ने माँ की बात मान ली, उसे प्रणाम किया और वहाँ से भाग निकला। भागकर वह तक्षशिला पहुँचा। उधर कसाई बहुत देर तक आँगन में बैल की तरह लोटता रहा और चित्कारता हुआ मर गया। मरकर नरक में जा पहुँचा। वह बैल भी मर गया।



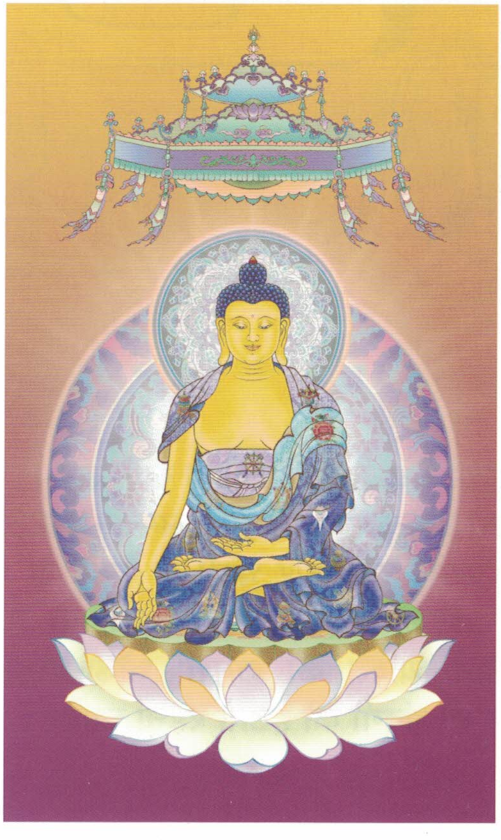


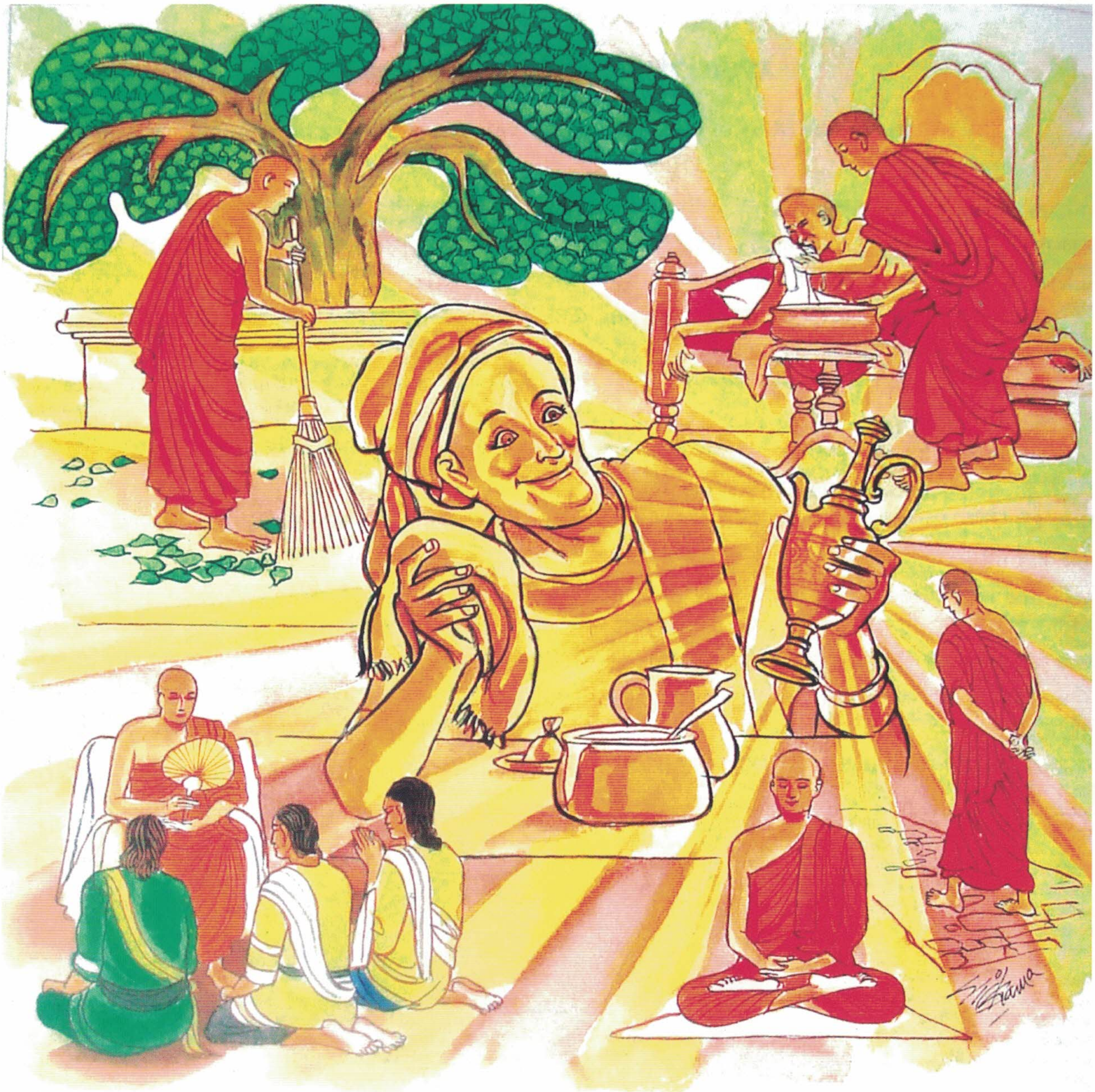
गाथा: सो करोहि दीपमत्तनो, खिप्पं वायम पण्डितो भव।
निद्धन्तमलो अनङ्णो, न पुनं जातिजरं उपेहिसि।।238।।

अर्थ: अतः तुम अपना स्वयं दीपक, द्वीप या शरण स्थल बन जाओ। आध्यात्मिक साधना तत्काल प्रारंभ करो और ज्ञानी पंडित बन जाओ। इस प्रकार बुद्धिमत्तापूर्वक सभी काम सम्पन्न करते हुए अपने आप को निर्मल और निष्पाप बनाओ। ऐसा करके तुम जन्म और जरा के चक्र से मुक्त हो जाओगे।

जन्म मरण के चक्कर से बचिए
पशुवधक के पुत्र की कथा

तक्षशिला पहुँचकर उस लड़के ने एक स्वर्णकार के यहाँ नौकरी कर ली। एक दिन उसका मालिक अपने गाँव जा रहा था। जाने से पहले उसने उस लड़के से कहा, " इस प्रकार का एक आभूषण बनाकर रखना।" ऐसा कहकर उसका मालिक चला गया। उस लड़के ने ठीक वैसा ही आभूषण बना दिया जैसा उसका मालिक चाहता था। जब उसका मालिक लौटा और उसने आभूषण देखा तो वह बहुत खुश हुआ और उसने सोचा, "यह लड़का जहाँ-कहीं भी रहेगा, अपनी रोजी-रोटी कमा लेगा।" इसलिए लड़का जब बड़ा हुआ, तब स्वर्णकार ने अपनी बेटी का विवाह उसके साथ कर दिया। उनके बाल-बच्चे हुए, परिवार में बढ़ोत्तरी हुई। जब वे बाल-बच्चे बड़े हुए तो उन्होंने बहुत सारी कलाएं सीखीं और श्रावस्ती में जा बसे । वहाँ उन्होंने अपना कारोबार फैला लिया और बुद्ध के उपासक बन गए। उनका पिता तक्षशिला में ही रुका रहा। उसने पुण्य का कोई भी काम नहीं किया और धीरे-धीरे बूढ़ा हो गया। उसके लड़कों ने सोचा, "हमारे पिता अब वृद्ध हो चले हैं" और ऐसा सोचकर उन्होंने अपने पिता को बुला लिया और श्रावस्ती में ही अपने साथ रखने लगे। तब उन्होंने सोचा, "हमें अपने पिता की ओर से पुण्य का काम करना चाहिए।" इसलिए उन्होंने बुद्ध एवं संघ को भोजन दान के लिए आमंत्रित किया। अगले दिन बुद्ध अपने भिक्षुओं के साथ पधारे, सबों ने अपने-अपने आसन पर विराजमान हो उपासकों द्वारा श्रद्धापूर्वक दिया गया भोजन दान ग्रहण किया और भोजन दान के बाद उन उपासकों ने बुद्ध से अनुमोदन किया, "भन्ते ! आज का भोजन-दान हमारे पिताश्री की ओर से स्वीकार करें और आशीर्वाद दें कि इसका पुण्य दान उन्हें मिले।" तब बुद्ध ने उस वृद्ध पिता का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा, "उपासक, तुम बूढ़े हो गए हो। तुम्हारा शरीर परिपक्व हो गया है और एक पीले पत्ते के समान है। तुमने कोई शुभ कर्म नहीं किया है जिसका इस जीवन के बाद के जीवन मार्ग के पाथेय के रूप में इस्तेमाल किया जा सके। इसलिए अब भी अपने लिए स्वयं प्रयत्न करो और अपना द्वीप बन जाओ। बुद्धिमान बनो, जीवन को इसी प्रकार व्यर्थ मत गँवा दो।"





गाथा: अनुपुब्बेन मेधावी, थोकं थोकं खणे खणे।
कम्मारो रजतस्सेव, निद्धमे मलमत्तनो।।239।।

अर्थ: जिस प्रकार स्वर्णकार चाँदी के अंदर के मैल को थोड़ा-थोड़ा करके धीरे-धीरे जला डालता है, उसी प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति को क्रमशः थोड़ा-थोड़ा करके अपने अन्दर की गंदगी को हटाते रहना चाहिए।

बुद्धिमान पुरुष गन्दगी में नहीं रहते
एक ब्राह्मण की कथा
स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

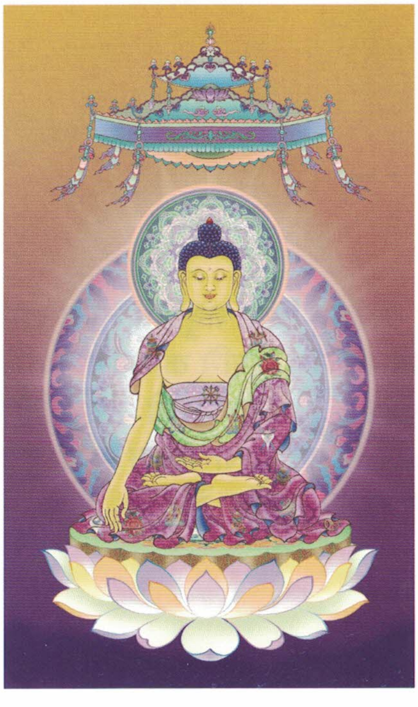
जेतवन विहार में निवास करते समय बुद्ध ने यह गाथा एक ब्राह्मण के संदर्भ में कही थी।

कथा के अनुसार एक दिन प्रातः एक ब्राह्मण नगर से बाहर गया। बाहर जाकर वहाँ रुक गया जहाँ भिक्षुगण अपना चीवर धारण करते थे और उन्हें ध्यान से देखने लगा। उस जगह पर लम्बी-लम्बी घास उगी हुई थी। चीवर पहनते समय, एक भिक्षु का चीवर धरती को छू गया जहाँ किसी का मूत्र पड़ा हुआ था और इस प्रकार उसका चीवर गंदा हो गया। ब्राह्मण ने सोचा, "इस घास को साफ कर देनी चाहिए।" अतः दूसरे दिन वह ब्राह्मण एक कुदाल लेकर आया और उस स्थान का घास छीलकर उसे बिल्कुल ही साफ-सुथरा और चिकना बना दिया। उसके बाद एक दिन वह फिर उसी स्थान पर गया जहाँ भिक्षुगण चीवर धारण किया करते थे और उन्हें चीवर धारण करते हुए देखा। उसने देखा कि जब भिक्षुगण चीवर पहन रहे थे तो उनमें से एक का चीवर धरती पर गिर गया। उसमें मिट्टी लग गई और वह गंदा हो गया। अतः उस ब्राह्मण को लगा कि यहाँ बालू बिछा देने से इस प्रकार की समस्या का हल निकल आयेगा। उसने दूसरे दिन बालू मंगाकर वहाँ बिछा दिया।

एक दिन धूप बड़ी ही तेज थी। उस दिन ब्राह्मण वहाँ पहुँचा तो उसने देखा कि भिक्षुगण तेज धूप में चीवर पहन रहे थे और उनके शरीर से पसीना चू रहा था। इसे देखकर ब्राह्मण ने सोचा, "मुझे यहाँ मंडप बनवा देना चाहिए।" उसने उस जगह पर एक मंडप बनवा दिया।

एक दिन सुबह में वर्षा हो गई। उस समय ब्राह्मण ने उन भिक्षुओं को बारिश में भीगते हुए देखा। ब्राह्मण ने सोचा, "वर्षा से बचने के लिए मुझे यहाँ एक शाला बनवा देनी चाहिए।" अतः उसने वहाँ एक शाला बनवा दिया। जब शाला बन गई तब ब्राह्मण ने सोचा, "इस शाला के निर्माण के सुअवसर पर मुझे एक विशेष-उत्सव का भी आयोजन करना चाहिए।" अतः उसने विशेष उत्सव का आयोजन किया और बुद्ध एवं भिक्षुसंघ को भोजन-दान के लिए आमंत्रित किया। बुद्ध एवं भिक्षुओं को शाला के अंदर और बाहर बिठा कर उन्हें भोजन-दान दिया।

भोजन-दान की समाप्ति के बाद धर्म-देशना का समय आया। अतः उसने शास्ता के सामने से पात्र हटाते हुए अनुमोदन हेतु आग्रह करते हुए निवेदन किया, "भन्ते ! मैंने यह शाला भिक्षुओं के लिए बनवा दी है क्योंकि मैंने भिक्षुओं को चीवर पहनते समय कष्ट में देखा था।" इस प्रकार उसने शुरू से अंत तक की कहानी सुना दी।





गाथा: अयसा व मलं समुट्ठितं, तदुट्ठाय तमेव खादति।
एवं अतिधोनचारिनं, सानि कम्मानि नयन्ति दुग्गतिं।।240।।

अर्थ: लोहे से उत्पन्न हुआ जंग जैसे उस लोहे को खा जाता है उसी प्रकार इंसान द्वारा किया गया दुष्कर्म (पाप) उसी इंसान का नाश कर देता है।

अपनी बर्बादी : अपने हाथों
तिष्य थेर की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

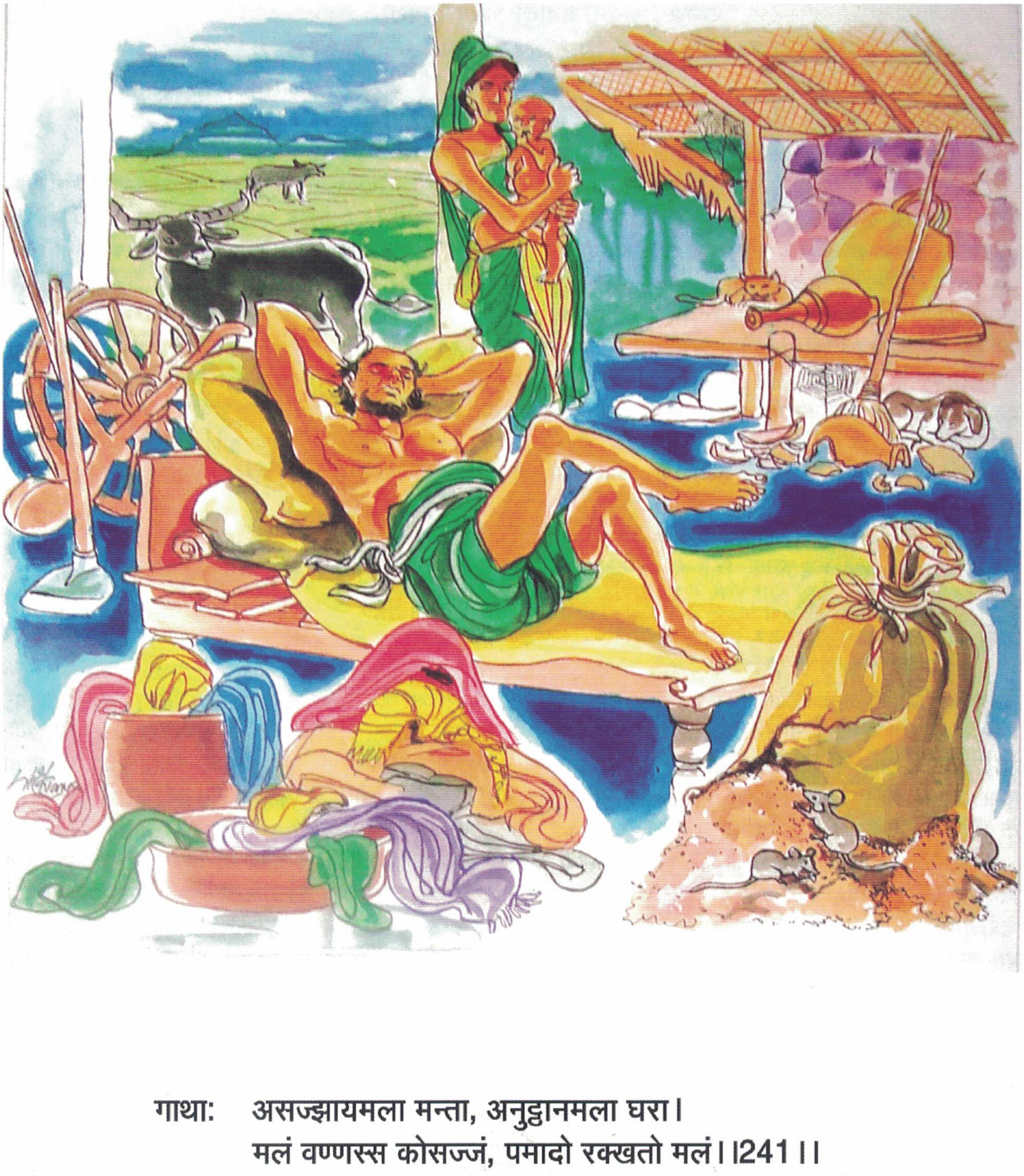
जेतवन विहार में विराजते समय बुद्ध ने यह गाथा तिष्य थेर के संदर्भ में कही थी।

कथा के अनुसार एक संभ्रान्त परिवार के युवक ने, जो श्रावस्ती में रहता था, संसार से मुँह मोड़ लिया, संन्यासी बन गया और तिष्य थेर के नाम से जाना जाने लगा। एक बार वह वर्षावास के लिए किसी गाँव में ठहरा और वर्षावास के बाद उसे आठ गज का एक वस्त्र दान में मिला। गाँव लौटकर उसने वह वस्त्र अपनी बहन को रखने के लिए दे दिया। बहन ने सोचा, "यह कपड़ा मेरे भैया के लायक नहीं है।" अतः उसने कैंची लेकर उस कपड़े को छोटे-छोटे टुकड़ों में काट दिया और उसे ऊखल में मूसल से कूटकर और फिर उसे कातकर नौ हाथ का नया वस्त्र बना दिया। स्थविर ने सूई-धागा का प्रबंध कर लिया और वस्त्र बनाने वाले युवा भिक्षुओं को बुलाकर अपनी बहन के पास गया और कहा, " वह कपड़ा मुझे दे दो। मैं उसका चीवर बनवा लूँगा।" बहन ने नौ हाथ का वह कपड़ा अपने भाई को दे दिया। उसने उसे फैलाकर देखा और बहन से कहा, "मेरा कपड़ा मोटा था, वह आठ हाथ लम्बा था। पर यह बहुत ही महीन है और नौ हाथ लम्बा है। यह तुम्हारा है, मेरा नहीं। मुझे मेरा कपड़ा दे दो जिसे मैंने तुम्हें दिया था।" "भन्ते, यह आपका ही है, ले लीजिए।" उसने लेने से इन्कार कर दिया। तब उसकी बहन ने पूरे विस्तार से बता दिया कि उसने क्या किया था और फिर से कपड़ा देते हुए कहा, "भन्ते ! यह आपका ही है, ले लीजिए।" अंततः स्थविर ने वह कपड़ा ले लिया, विहार चला गया और दर्जी को चीवर बनाने के लिए दे दिया। उसकी बहन ने दर्जी के लिए विशेष भोजन बनाया और अगले दिन जब दर्जी ने कपड़े सील दिए तो बहन ने उसे वह खाना खिला दिया। तिस्स ने सिले कपड़े देखे। वे उसे बहुत अच्छे लगे। उसने कहा, "मैं इन्हें कल पहनूँगा।" उसका तह लगाकर उसने उसे एक तरफ रख दिया।

रात्रि में तिस्स का अति भोजन करने के कारण देहान्त हो गया और उसने उसी कपड़े में एक चीलर के रूप में जन्म लिया। तिस्स की मृत्यु के बाद उस चीवर का भिक्षुओं के बीच बँटवारा किया जाना था। पर बँटवारे के नाम पर वह चीलर चिल्लाने लगा। गंधकुटी में बैठे बुद्ध ने अपनी अंतर्दृष्टि से उसकी आवाज सुनी और आनन्द को सलाह दी कि चीवर का अभी तुरंत बँटवारा न करके सात दिनों के बाद बँटवारा किया जाए। ऐसा ही हुआ। सातवें दिन उस चीलर की मृत्यु हो गई और उसका जन्म तुषिर लोक में हो गया। उसके दूसरे दिन तिस्स के चीवर के विभाजन की आज्ञा मिल गई।

भिक्षुओं में चर्चा का विषय था कि बुद्ध ने सात दिनों तक उस वस्त्र के विभाजन को क्यों रोक दिया था। बुद्ध ने यह बात सुनी तो शिष्यों को समझाया, "तिस्स का जन्म उसी वस्त्र में चीलर के रूप में हुआ था। जब तुमने वह वस्त्र बाँटना चाहा तो वह चिल्लाने लगा। अगर तुमने उस कपड़े को जबरदस्ती बाँट लिया होता, तो वह चीलर तुम लोगों के प्रति घृणा भाव रखता और इस कारण वह पुनः नरक में जन्म लेता। इसलिए जब उसका जन्म तुषित लोक में हो गया है तब मैंने तुम्हें अनुमति दी है कि तुम उस कपड़े को बाँट लो। बुद्ध ने अपनी बात जारी रखते हुए कहा, "देहधारी के लिए तृष्णा बहुत ही खतरनाक चीज है। इससे मुक्ति पाना बहुत ही कठिन है। जैसे लोहे में लगा हुआ जंग अंततः उसी लोहे को खा जाता है, उसी प्रकार तृष्णा जिस व्यक्ति में उत्पन्न होती है वह उसी व्यक्ति का नुकसान कर देती है और उसे पुनः नरक में जन्म लेना पड़ता है।"





गाथा: असज्झायमला मन्ता, अनुट्ठानमला घरा।
मलं वण्णस्स कोसज्जं, पमादो रक्खतो मलं।।241।।

अर्थ: धर्मज्ञान का स्वाध्याय न करना 'मैल' है। आलस्य शरीर की सुन्दरता का 'मैल' है तथा सिपाही का असावधान होना 'मैल' है।

क्या है मैल ?
लाल उदायी की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

कथानुसार श्रावस्ती के अनेक उपासक बौद्ध-विहार में विभिन्न प्रकार का दान देते थे और धर्म-प्रवचन सुनते थे। वहाँ से विदा होते हुए वे अक्सर स्थविर सारिपुत्त एवं महामोग्गलान के प्रवचनों की प्रशंसा किया करते थे। जब लाल उदायी थेर ने उन्हें प्रशंसा करते हुए सुना तो उसे जलन हुई और उसने उनसे कहा, "तुम सिर्फ उनका ही प्रवचन सुनते हो। अतः केवल उनका ही गुणगान करते हो। जब मेरी कथा सुनोगे तब पता नहीं तुमलोग क्या करोगे ?" उसकी बात सुनकर लोगों ने सोचा, "यह निश्चय ही कोई श्रेष्ठ धर्मवक्ता है। अन्यथा ऐसी बात नहीं करता। हमें उसका भी प्रवचन सुनना चाहिए।" इसलिए उन्होंने एक दिन स्थविर से आग्रह किया, "भन्ते ! आज हम लोग आपसे धर्म-प्रवचन सुनना चाहते हैं। अतः संघदान समाप्त हो जाने के बाद आप कृपया धर्म कथा सुनायें।" लाल उदायी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

धर्मश्रवण का समय आया। साधकों ने स्थविर के पास आकर उनसे आग्रह किया, "भन्ते ! हमें कृपया धर्मोपदेश दें।" अतः लाल उदायी आसन पर विराजमान हुआ, अपने हाथ में एक चित्रित पंखा लिया और आगे-पीछे हवा झलने लगा। उसे धर्म का एक शब्द भी मालूम नहीं था। अतः क्या करता ? उसने जनता से कहा, "मैं गाथाओं का सस्वर पाठ करूँगा, कोई दूसरा व्यक्ति धर्मकथा सुना दे।" ऐसा कहकर वह आसन से उतर गया। तब उपासकों ने किसी अन्य से धर्मकथा सुनाने के लिए कहा। उसके बाद उन्होंने लाल उदायी से पुनः गाथाओं का सस्वर पाठ करने का आग्रह किया। लेकिन उदायी को तो कुछ भी नहीं आता था । अतः उसने एक बार फिर कहा, "मैं रात्रि बेला में धर्मकथा सुना दूँगा, अभी कोई और गाथाओं का सस्वर पाठ कर दे। अतः नागरिकों ने एक बार फिर किसी से गाथाओं का सस्वर पाठ सुना और रात्रि बेला में एक बार फिर स्थविर उदायी के पास आ धमके। रात्रि बेला में भी वह क्या बोलता ? उसे तो धेला भी आता-जाता नहीं था। इसलिए उसने कहा, "मैं सुबह में धर्म-पाठ करूँगा। अभी कोई और ही धर्म-पाठ कर दे।" ऐसा कहकर वह एक बार फिर आसन से उतर गया। उपासकों ने फिर किसी अन्य से धर्म-कथा सुनी और प्रातः काल लाल उदायी के पास आ पहुँचे। लेकिन एक बार फिर वही कहानी दुहराई गई। ऐसा सुनकर भीड़ ने अपना धैर्य खो दिया। लोग उस पर डंडे, लाठी, पत्थर आदि फेंकने लगे और उसका तिरस्कार करते हुए कहे, "मूर्ख ! जब हम लोग भन्ते सारिपुत्त और महामोग्गलान के गुणों की चर्चा कर उनकी प्रशंसा कर रहे थे तब तू उनकी निन्दा करने लगा। अब तू कुछ क्यों नहीं बोलता है ? तुझे तो ज्ञान का क, ख, ग भी नहीं मालूम ।" लाल उदायी मार के भय से भागने लगा। लोग उसके पीछे दौड़े और वह एक मलकूप में जा गिरा।

इस घटना के बाद नागरिकों और भिक्षुओं में चर्चा का विषय था- लाल उदायी। वे आपस में बातें कर रहे थे, "लाल उदायी को आज चार बार धर्मासन पर बैठाया गया पर वह एक बार भी धर्मकथा नहीं कह सका। हमारे द्वारा भन्ते सारिपुत्त तथा मोग्गलान की प्रशंसा किए जाने पर वह उनसे ईर्ष्या करता था और स्वयं को भी एक धर्म-प्रचारक के रूप में घोषित करता था। जब लोगों ने उसे अवसर दिया कि वह धर्म-प्रवचन दे तो वह एक शब्द भी नहीं बोल सका। बाद में लोगों ने उसकी पिटाई कर दी।" जब यह चर्चा चल रही थी, उसी समय बुद्ध वहाँ पधारे। उन्होंने भिक्षुओं से पूछा कि किस विषय पर चर्चा चल रही थी। तब भिक्षुओं ने सारी घटना सुनाई। बुद्ध ने कथा सुनने पर भिक्षुओं को बताया कि अपने पूर्व जन्म में भी लाल उदायी सज्जनों की निंदा करता था और उस जन्म में भी मल कूप में जा गिरा था। तथागत ने समझाते हुए कहा, "भिक्षुओं ! लाल उदायी ने धर्म का अभ्यास नाम मात्र किया है और स्वाध्याय तो लेश-मात्र भी नहीं किया। इस तरह नाम मात्र का धर्म ग्रहण करना और फिर उसका अभ्यास न करना, एक प्रकार का मल ही है।"

फिर उन्होंने यह गाथा कही।





गाथा: मलित्थिया दुच्चरितं, मच्छेरं ददतो मलं।
मला वे पापका धम्मा, अस्मिं लोके परम्हि च।।242।।

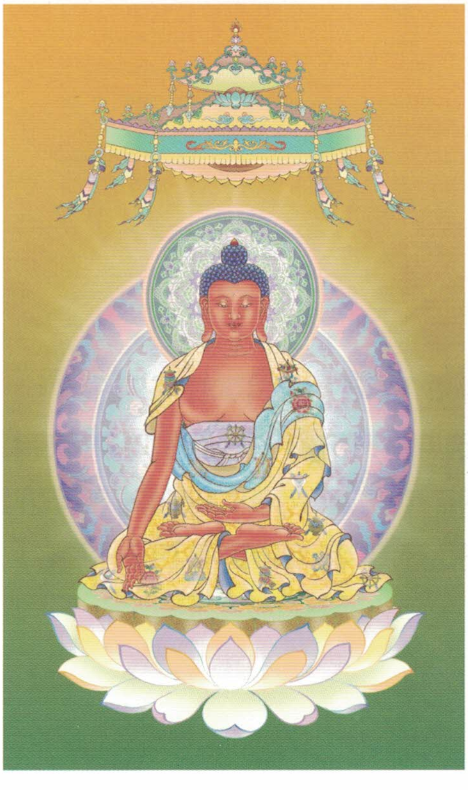
अर्थ: दुराचारिता स्त्रियों का मैल है, दानी के दान करने में कंजूसी मैल है तथा इस लोक तथा परलोक में किए गए अकुशल कर्म- ये तीनों ही मैल (मल) कहलाते हैं।

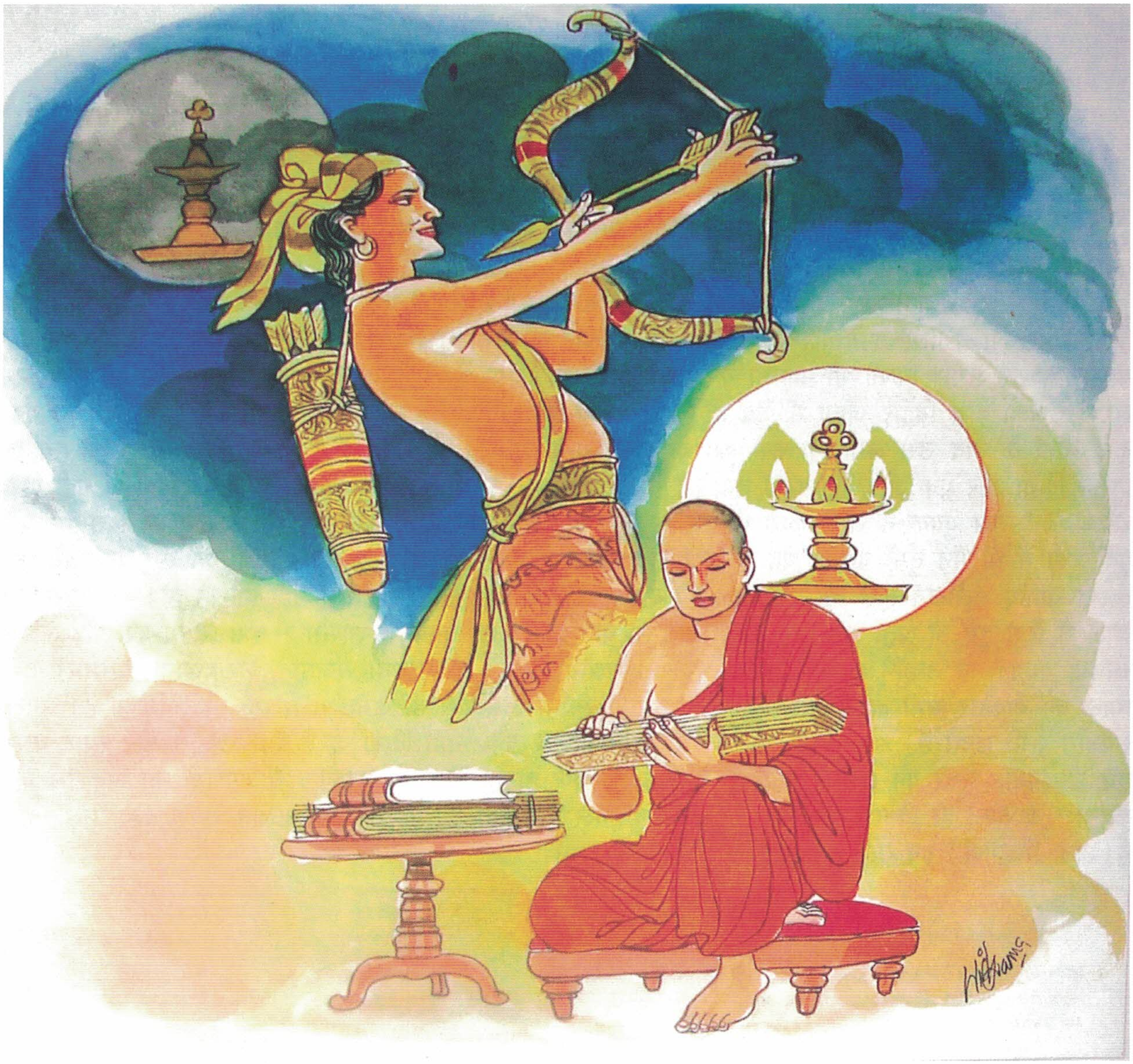
लोक-परलोक में मैल क्या है ?
व्यभिचारिणी पत्नी की कथा

स्थान : जेतवन,राजगृह

वेणुवन में प्रवास काल में बुद्ध ने ये दोनों गाथाएं एक सम्मानित परिवार के युवक के सम्बन्ध में कही थी जिसकी पत्नी व्यभिचारिणी थी।

कथानुसार एक युवक का अपने ही समकक्ष परिवार की एक युवती से विवाह हो गया। विवाह के दिन से ही उसकी पत्नी अतिचारिणी थी। उसके व्यभिचार की चर्चा समाज में होने लगी। इससे वह युवक लज्जित महसूस करने लगा। किसी भी आदमी के पास जाने तथा लोगों में उठने-बैठने में वह संकोच का अनुभव करने लगा। उसका बौद्ध विहार जाना भी बंद हो गया। दैनिक पूजा-पाठ और ध्यान-साधना में भी उसे विरक्ति हो गई। कुछ दिनों के बाद उसे लगा कि उसे बुद्ध के पास जाना चाहिए। अतः वह बौद्ध विहार गया, उसने शास्ता को प्रणाम किया और एक ओर बैठ गया। तब बुद्ध ने उससे पूछा, "उपासक ! क्या बात है ? बहुत दिनों से नहीं दिख रहे थे ? " उस युवक ने सारी कथा वृत्तान्त से सुना दी। तब तथागत ने उसे समझाया, "उपासक ! तुम्हारे एक पूर्व जन्म में भी मैंने तुम्हें बताया था, "स्त्रियाँ नदियों के सदृश होती हैं। समझदार आदमी को उन पर क्रोध नहीं करना चाहिए,' लेकिन तुम्हें वह पूर्व जन्म की बात याद नहीं है, अतः तुम समझ नहीं पा रहे हो। तुम सांसारिक जाल में फँसे हुए हो अतः यह तुम्हें स्पष्ट नहीं हो पाया है।" उस युवक ने शास्ता से इस विषय पर और अधिक जानना चाहा। तब उन्होंने जातक को विस्तार से समझाया, "जैसे नदी, लम्बा राजमार्ग, शराबखाना, धर्मशाला तथा प्याऊ का व्यवहार सभी करते हैं अर्थात् जैसे ये सभी सर्वभोग्य हैं वैसे ही जगत में स्त्रियाँ भी सर्वभोग्य हैं। उनका उपभोग सभी करते हैं। अतः ज्ञानी जन स्त्रियों के विषय पर क्रोध नहीं किया करते हैं।" उन्होंने और स्पष्ट करते हुए समझाया, "स्त्री का अतिचारी होना, दानी का कृपण होना, लोक या परलोक में प्राणियों का अकुशल कर्म करना - ये तीनों ही विनाश के लक्षण हैं। अतः ये 'मल' कहलाते हैं। पर अविद्या, अज्ञान सबसे बड़ा 'मल' होता है। अतः भिक्षुगण ! इन मलों को त्यागकर निर्मल हो जाओ।"





गाथा ततो मला मलतरं, अविज्जा परमं मलं।
एतं मलं पहन्त्वान, निम्मला होथ भिक्खवो।।243।।

अर्थः इन सभी मलों से बढ़कर मैल है- अविद्या। अतः भिक्षुओं !
इन सभी मलों को त्यागकर निर्मल बनो।

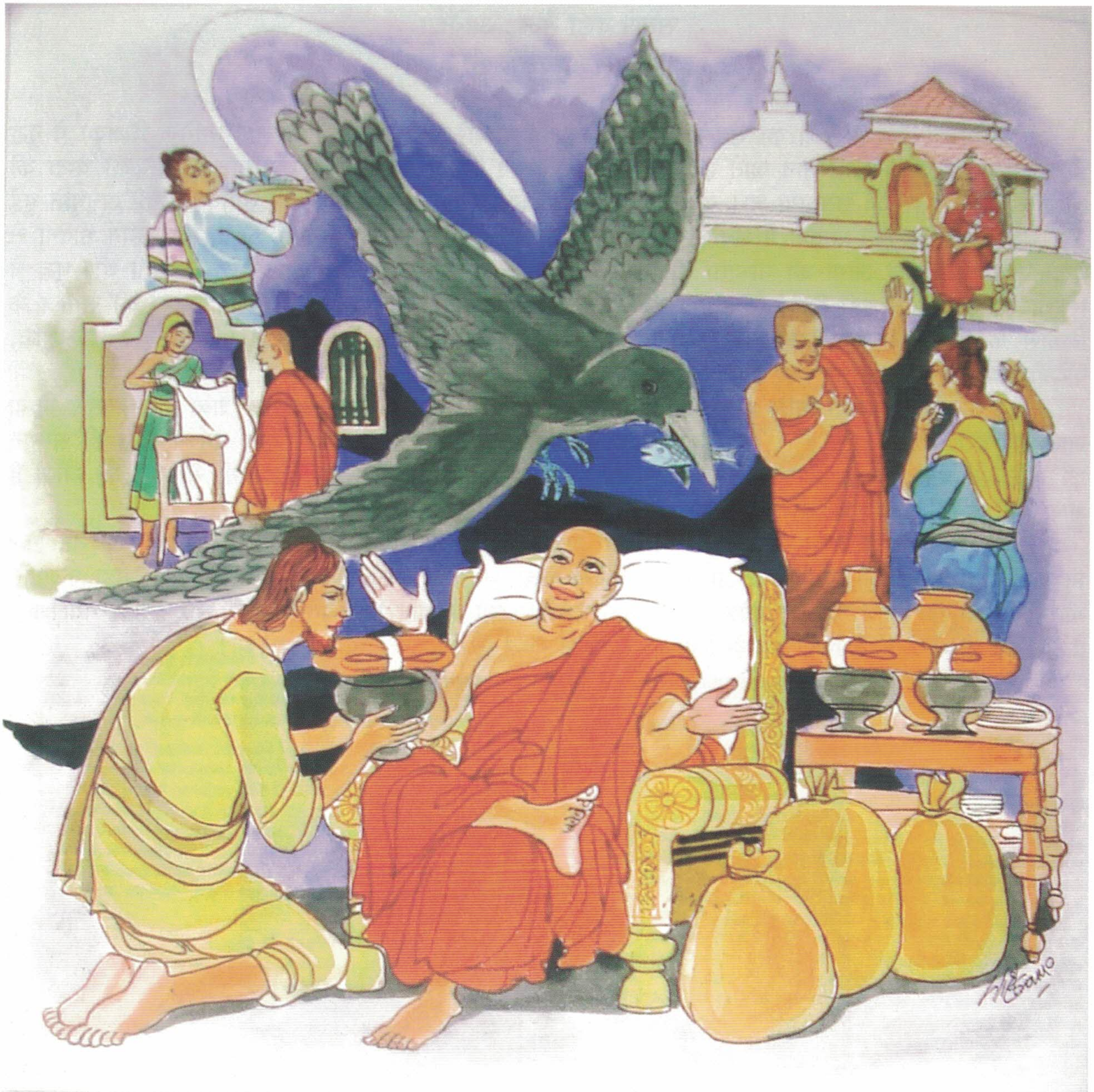
सबसे बड़ा मैल : अविद्या
व्यभिचारिणी पत्नी की कथा

टिप्पणी: स्त्री का सबसे बड़ा दोष उसका दुश्चरित्र होना है। समकालीन धार्मिक शिक्षकों में बुद्ध ही सबसे अधिक उदारवादी माने जाते हैं। बुद्ध ने ही सर्वप्रथम स्त्रियों को समाज में सम्मान दिलाने की चेष्टा की थी और उनके स्तर को उठवाया था। उनके प्रयत्न से ही स्त्रियों को समाज में अपनी उपादेयता की अनुभूति हुई और सबसे पहले उन्होंने समाज में अपना महत्व समझा। बुद्ध से पूर्व समाज में स्त्रियों को बहुत ही हीन भावना से देखा जाता था। कुछ लोगों की मान्यता थी कि स्त्रियाँ नरक के मार्ग पर जाने का प्रकाश दिखाती थीं। बुद्ध ने स्त्रियों को अपमानित नहीं किया, उन्होंने उनको चंचल स्वभाव वाला बताया। उन्होंने पूर्णत: माना की समाज के विकास के लिए स्त्री और पुरुष दोनों का ही योगदान है और उन्होंने दोनों को ही प्रतिष्ठा दी। आत्मशुद्धि, पवित्रीकरण या सेवा भाव के लिए लिंग व्यवधान नहीं है।

यदा कदा पालि भाषा में स्त्रियों को सम्बोधित करने के लिए 'मातुगम' शब्द का व्यवहार किया जाता है। इसका अर्थ होता है - 'माता का समूह' या 'माता का समाज।' माता को बौद्ध धर्म में बहुत ही सम्मान की दृष्टि से देखा गया है। माता को वह सीढ़ी माना गया है जिसके द्वारा आदमी आसानी से स्वर्ग को जाता है और पत्नी को पति का सर्वश्रेष्ठ मित्र (परम सखा) माना गया है।

यद्यपि प्रारंभ में बुद्ध ने सुनिश्चित कारणों से स्त्रियों का संघ में प्रवेश वर्जित कर रखा था, फिर भी बाद में उन्होंने अपने प्रिय शिष्य आदरणीय आनन्द तथा अपनी पालन-पोषण करने वाली माता, महा पजापति गौतमी के अनुरोध पर स्त्रियों के प्रवेश की अनुमति दे दी। उसी के बाद भिक्षुणियों का भी संघ बनाया गया। इस प्रकार बुद्ध ही थे जिन्होंने भिक्षुणियों के लिए सबसे पहले पहल कर संघ का गठन किया था।





गाथा सुजीवं अहिरिकेन, काकसूरेन धंसिना।
पक्खन्दिना पगब्भेन, सङ्किलिट्ठेन जीवितं।।244।।

अर्थः पाप के प्रति निर्लज्ज होकर, कौवे जैसा स्वार्थी बनकर, दूसरों का अहित करते हुए, पापी, पतित बनकर, मिथ्या ढंग से अपनी चतुरता से जीवन सुखपूर्वक जी लिया जाता है।

पापी मिथ्या ढंग से जीवन जी लेता है
चूलसारि की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

ये दोनों गाथाएं शास्ता ने जेतवन में सारिपुत्त स्थविर के शिष्य चूलसारि के संदर्भ में कही थी जो वैद्यकर्म भी किया करता था।

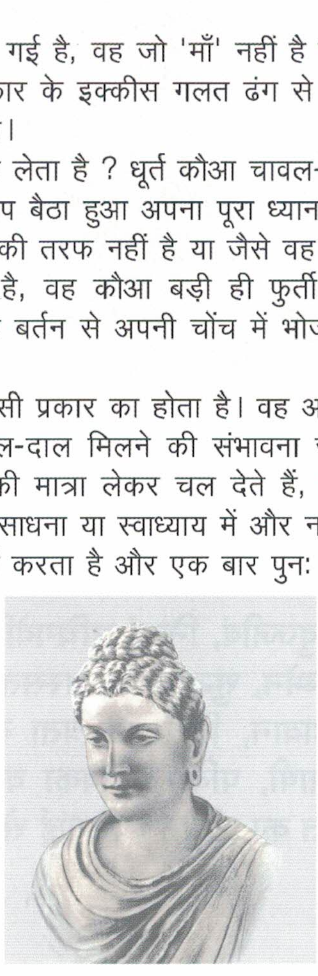
कथा के अनुसार एक दिन चूलसारि ने नगर में वैद्य के रूप में उपासकों का ईलाज किया और उसके एवज में उपासकों ने उसे स्वादिष्ट भोजन दिया। वह भोजन लेकर विहार जा रहा था कि मार्ग में उसे स्थविर सारिपुत्त मिल गए। उसने भन्ते सारिपुत्त से कहा, "मैंने यह अति स्वादिष्ट भोजन वैद्यकर्म द्वारा अर्जित किया है। आप चाहें तो आप भी इसे ग्रहण कर लें।" स्थविर सारिपुत्त ने न तो उससे भोजन लिया और न ही उसे कोई बात कही। तब चूलसारि ने पुनः कहा, "मैं ईलाज करके नित्य इसी प्रकार का भोजन लाऊँगा।" भिक्षुओं के लिए इस प्रकार से भोजन प्राप्त करना शील के नियमों के विपरीत था। अत: चूलसारि को इस विधि से न तो भोजन प्राप्त करना चाहिए था और न भविष्य में भोजन प्राप्त करने की योजना बनानी चाहिए थी। अत: थेर सारिपुत्त ने कुछ नहीं कहा और चुपचाप शांत रहकर चल दिए।

विहार पहुँचने पर सारिपुत्त के साथ चल रहे भिक्षुओं ने शास्ता को सारी बताई । तथागत ने उनकी बातें सुनकर कहा, " भिक्षुओं ! सिर्फ लज्जाविहीन साधक ही एक कौए की तरह अपनी चतुराई दिखाते हुए इक्कीस प्रकार के निषिद्ध आजीविका को अपनाकर, अनुचित विधि से अपने लिए सुख सामग्री एकत्र कर लेता है। इसके विपरीत धर्म में आस्था रखने वाला साधक दुखपूर्वक जीवन जीता है। इस प्रकार उपदेश देकर तथागत ने ये दो गाथाएं कहीं।

टिप्पणी: जिस व्यक्ति की लज्जा खतम हो गई है, वह जो 'माँ' नहीं है उसको 'माँ' कह सकता है और जो 'पिता' नहीं है उसे पिता कह सकता है। इस प्रकार के इक्कीस गलत ढंग से जीवन यापन करता हुआ ऐसा व्यक्ति एक कौए की तरह सुखपूर्वक जीवन जी लेता है।

कौआ कैसे सुखपूर्वक जी लेता है ? धूर्त कौआ चावल-दाल चुराकर खाने की इच्छा संजोए किसी अच्छे परिवार के घर की दीवार पर चुपचाप बैठा हुआ अपना पूरा ध्यान अपने लक्ष्य पर केन्द्रित किए रहता है पर ऐसा दिखाता है जैसे उसका ध्यान भोजन की तरफ नहीं है या जैसे वह सो रहा हो। लेकिन जैसे ही परिवार वालों का थोड़ा सा भी ध्यान इधर-उधर होता है, वह कौआ बड़ी ही फुर्ती से झपट्टा मारता है। घर के लोग ताली बजाकर उसे मारने दौड़ते हैं पर इस बीच बर्तन से अपनी चोंच में भोजन भर कर भाग जाता है। लोग कुछ कर नहीं पाते।

निर्लज्ज भिक्षु भी कुछ इसी प्रकार का होता है। वह अन्य भिक्षुओं के साथ ग्राम में प्रवेश करता है पर जाता उधर है जहाँ उसे अधिक चावल-दाल मिलने की संभावना रहती है। जहाँ अन्य भिक्षु शरीर का वहन करने के लिए आवश्यक न्यूनतम भोजन की मात्रा लेकर चल देते हैं, वह अधिक मात्रा में भोजन लेता है। जहाँ अन्य भिक्षु विहार आकर भोजन कर ध्यान साधना या स्वाध्याय में और नहीं तो विहार की साफ-सफाई में लग जाते हैं, वह लालची भिक्षु कोई साधना कर्म नहीं करता है और एक बार पुनः गाँव की ओर वापस चल देता है।





गाथा हिरीमता च दुज्जीवं, निच्चं सुचिगवेसिना।
अलीनेनप्पगब्भेन, सुद्धाजीवेन पस्सता।।245।।

अर्थः किन्तु लज्जावान, नित्य पवित्रता बरतने वाले, आलस्य मुक्त, मितभाषी, पवित्र जीविका वाले ज्ञानी साधक का भौतिक जगत का जीवन कठिनाई से बीतता है।

पवित्र साधक का जीवन कठिनाई से बीतता है
चूलसारि की कथा

गाँव में जाकर वह उस घर की ओर चला जाता है जहाँ जाने का निश्चय उसने प्रातः ही कर लिया है। उस घर पर जाकर दरवाजा खटखटाता है और भले ही घर के लोग शोक ग्रस्त होकर क्रंदन कर रहे हों, वह दरवाजा खुलवा कर जबरदस्ती अंदर चला जाता है। ऐसे बेशर्म अतिथि को देखकर घर वाले उसे बैठने के लिए आसन देते हैं और वह वहाँ बैठ जाता है। घर वाले उसे भोजन की भिक्षा देते हैं। जितना खाने की क्षमता हो, उतना भोजन कर, वह भिक्षु पुनः बाकी भोजन को साथ ले वापस चल देता है।

इस प्रकार के स्वभाव वाले भिक्षु को 'काकशूर' कहते हैं। ऐसा निर्लज्ज भिक्षु सुखमय जीवन व्यतीत करने में कुशल होता है।

इसी प्रकार कुछ भिक्षु ऐसे भी होते हैं, जिन्हें 'ध्वंसी' कहा जाता है। इनकी आदत होती है कि ये दूसरों के गुणों का ध्वंस करते हैं। ऐसा ध्वंसी पुरुष अपना और दूसरों का नाश ही करता है।

भिक्षुओं के एक अन्य समूह को जो व्यर्थ की उछल कूद मचाता है, 'पक्खन्दिना' कहते हैं।

इस प्रकार निर्लज्ज भिक्षुओं का जीवन सांसारिक दृष्टि से सुखमय होता है।

दूसरी ओर आत्मसंयम और अनुशासन के साथ जीवन जीने वाला भिक्षु कष्टमय जीवन जीता है। वह अपने लाभ के लिए जो माता नहीं है उसे 'माता' नहीं कह सकता, धर्म विरुद्ध बातों को वह मल की तरह त्याग देता है। भोजन उतना ही ग्रहण करता है जितनी शरीर को आवश्यकता है । सांसारिक दृष्टि से वह सुखमय जीवन नहीं जीता। वरन् लोगों की दृष्टि में उसका जीवन 'सूखा' होता है।

दूसरे शब्दों में अगर किसी के पास 'हया' नाम की कोई चीज नहीं है, तो ऐसे आदमी का सांसारिक जीवन आसान होता है क्योंकि वह जैसा जीवन चाहे, वैसा जी सकता है। उसे लोक-लज्जा से कुछ भी लेना-देना नहीं होता है। वह हठी कौए की तरह अपने लाभ के लिए कुछ भी कर सकता है, किसी का कुछ भी नुकसान पहुँचा सकता है। जैसे कौए का जीवन गंदा होता है वैसे ही ऐसे व्यक्ति का जीवन भी मलीन होता है। वह घमंडी होता है और अपने दंभ का प्रदर्शन करता हुआ, दूसरों की परवाह किए बिना जीवन जीता है।

नम्र व्यक्ति का जीवन कठिन होता है। जो व्यक्ति संवेदनशील, संयमित है और सदैव पवित्र उद्देश्यों का ही अनुपालन करता है, आसक्त नहीं है और अपनी अर्न्तप्रज्ञा से कार्य करता है, उसका जीवन सांसारिक दृष्टि से रूखा-सूखा होता है।

अतः उचित-अनुचित क्या है ? यह संसार एक जादू का खिलौना है। हम जो चाहेंगे, वही पायेंगे। प्रश्न का उत्तर हमारे पास है। हम सांसारिक दृष्टि से धनी, सुखी होना चाहते हैं या आध्यात्मिक दृष्टि से ? निर्णय हमारा खुद का होगा।

सांसारिक वस्तुएं नश्वर हैं। हमें आज नहीं तो कल उन्हें यहीं छोड़कर जाना पड़ेगा। अतः अगर हम दूर की सोचें तो यही पायेंगे कि 'संसार का मिलना' वास्तव में भूसा प्राप्त करने के समान है। दूसरी ओर अगर हमारी आध्यात्मिक उन्नति होती है तो इस प्रक्रिया में 'संसार खो जाता है'। लेकिन दूर-दूर तक का हिसाब लगाएं, जन्म-जन्मों की गणना करें तो इस प्रकार 'संसार का खोना' खोना नहीं है। ऐसा 'खोना' तो वास्तव में सोना प्राप्त करने के समान है।

अगर हम बुद्ध के जीवन को गहराई से समझने की कोशिश करें तो हमारी शंका निर्मूल हो जाएगी।





गाथा यो पाणमतिपातेति, मुसावादं च भासति।
लोके अदिन्नंमादियति, परदारञ्च गच्छति।।246।।

अर्थः जो जीव हिंसा करता है, असत्य बोलता है, जो चीजें उसकी नहीं हैं उसे ले लेता है अर्थात् चोरी करता है तथा पराई स्त्री से सम्बन्ध रखता है।

पापकर्मी पाप का फल पायेगा
पाँच सौ उपासकों की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

शास्ता ने ये गाथाएं जेतवन विहार में पाँच भिक्षुओं के सम्बन्ध में कही थीं जो आपस में वाद-विवाद में उलझ गए थे कि कौन सा शील अधिक श्रेष्ठ है।

कथानुसार श्रावस्ती में किसी समय पाँच सौ उपासकों ने उपोसथ व्रत रखा और शील पालन प्रारंभ किया। हर एक उपासक एक शील का अनुपालन करता था। जैसे एक उपासक सिर्फ इसी शील का पालन करता था कि प्राणी हत्या नहीं करेगा, जीवन नहीं लेगा। दूसरा उपासक 'प्राणातिपाप से विराम' के अतिरिक्त किसी दूसरे शील का पालन नहीं करता था। वह सिर्फ उसी शील का पालन करता था। इस प्रकार एक दिन पाँच उपासक जो एक-एक शील का पालन कर रहे थे आपास में भिड़ गए। उनमें आपस में चर्चा होने लगी कि उनके द्वारा पालन किया जाने वाला शील ही सबसे कठिन है। उनका कहना था, "इस शील का पालन करना ही सबसे कठिन है, और मैं इस सबसे कठिन शील के पालन में लगा हूँ।" जब आपस में उनके वाद-विवाद से कोई हल नहीं निकला तो वे शंका समाधान हेतु शास्ता के पास पहुँचे और उनसे ही यह प्रश्न कर डाला। तब शास्ता ने उन्हें समझाया, "किसी भी एक शील को छोटा नहीं समझना चाहिए। यही समझना चाहिए कि इनमें से प्रत्येक का पालन करना अति दुष्कर है।"

इस प्रकार समझाने के बाद बुद्ध ने ये गाथाएं कहीं।

टिप्पणीः इन तीनों गाथाओं में पंचशील का जिक्र आता है। गृहस्थ से भी आशा की जाती है कि वह अपने जीवन में पंचशील का पालन करेगा। वस्तुतः बौद्ध शिक्षा पूर्णतः शील पर आधारित है और पंचशील आचार-विचार का न्यूनतम स्तर है। आध्यात्मिक मार्ग के पथिक को कम से कम पंचशील का पालन तो करना ही पड़ेगा। ऐसा नहीं करने से वह अध्यात्म का क, ख, ग भी नहीं जान पायेगा।

ये पाँच शील हैं:-

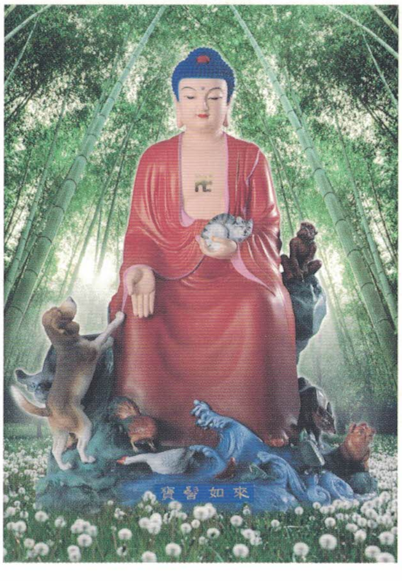
(i) मैं प्रण करता हूँ कि किसी भी प्रकार की जीव हत्या नहीं करूँगा।

(ii) मैं प्रण करता हूँ कि जिस वस्तु पर मेरा हक नहीं है उसे प्राप्त करने के लिए चेष्टा नहीं करूँगा अर्थात् चोरी नहीं करूँगा।

(iii) मैं प्रण करता हूँ कि मैं किसी से गलत यौन सम्बन्ध नहीं रखूँगा।

(iv) मैं प्रण करता हूँ कि मैं कभी भी मिथ्या वचन का उच्चारण नहीं करूँगा।

(v) मैं प्रण करता हूँ कि मैं कभी भी शराब एवं अन्य नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूँगा।





गाथा सुरामेरयपानञ्च, यो नरो अनुयुञ्जति।
इधेवमेसो लोकस्मिं, मूलं खणति अत्तनो।।247।।

अर्थः जो मद्यपान का अभ्यस्त हो गया है वह इस लोक में स्वयं अपनी जड़ खोदता है अर्थात् अपने लिए विनाश का मार्ग बनाता है।

पापी स्वयं अपनी जड़ खोदता है
पाँच सौ उपासकों की कथा

सर एडविन आर्नल्ड ने अपनी पुस्तक "लाइट ऑफ एशिया" में इसका जिक्र किया है। इसका हिन्दी रूपान्तरण कुछ इस प्रकार है:-

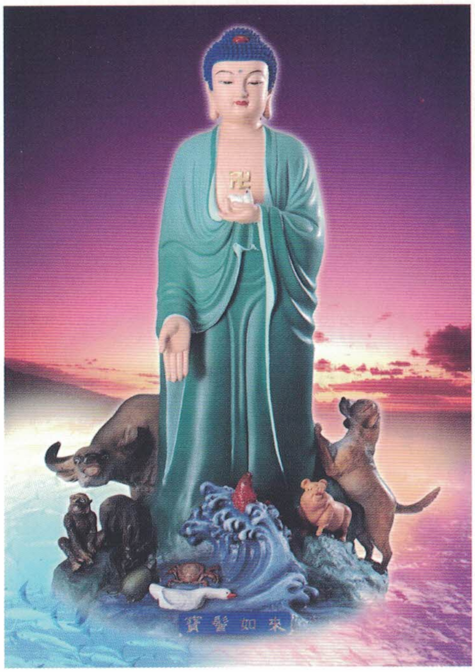
दया के नाते करो मत जी हिंसा भ्राता !
क्षुद्र से अति क्षुद्र यह जो जीव है दरसाता।
करते पूरा भोग, ऊँचे जाते पंथ सुधार,
बाधा मत डालो तुम, इनको बीच में ही मार।

बने जो कुछ देओ-लेओ तुम इस जग में,
कुछ मत लो पर तुम लोभ वश पड़ छलबल में।
दो न साक्षी झूठी, मत करो निंदा जान,
सत्य बोलो, सत्य ही है शुद्धता की खान।

मत पीओ मद, बुद्धि नष्ट कर हर लेता है ज्ञान,
शुद्ध जिसका मन, उसे क्या सोमरस का पान ?
दृष्टि मत डालो पराई नारी पर कर घात,
करो न अपनी इंद्रियों को पाप में रत, भ्रात !

इन शीलों को दैनिक जीवन में व्यवहार में उतारा जाना चाहिए। वे मात्र मंत्र की तरह उच्चारण करने हेतु नहीं हैं। वाणी के स्तर पर सिर्फ उच्चारण करने से या मात्र यह उम्मीद लगाने से कि दूसरे इनको जीवन में उतारेंगे, किसी का भी लाभ नहीं होने वाला है।

बहुत ही सुन्दर ढंग से इसे यूँ समझाया गया है:- "अगर कोई इन गाथाओं को हृदय से याद कर ले पर जीवन में उसे नहीं उतारे तो वह व्यक्ति वैसा ही है जैसे उसने रोशनी तो जला ली है पर उसके बाद उसने अपनी आँखें मूँद ली हैं।"





गाथा: एवं भो पुरिस जानाहि, पापधम्मा असञ्जता।
मा तं लोभो अधम्मो च, चिरं दुक्खाय रन्धयुं।।248।।

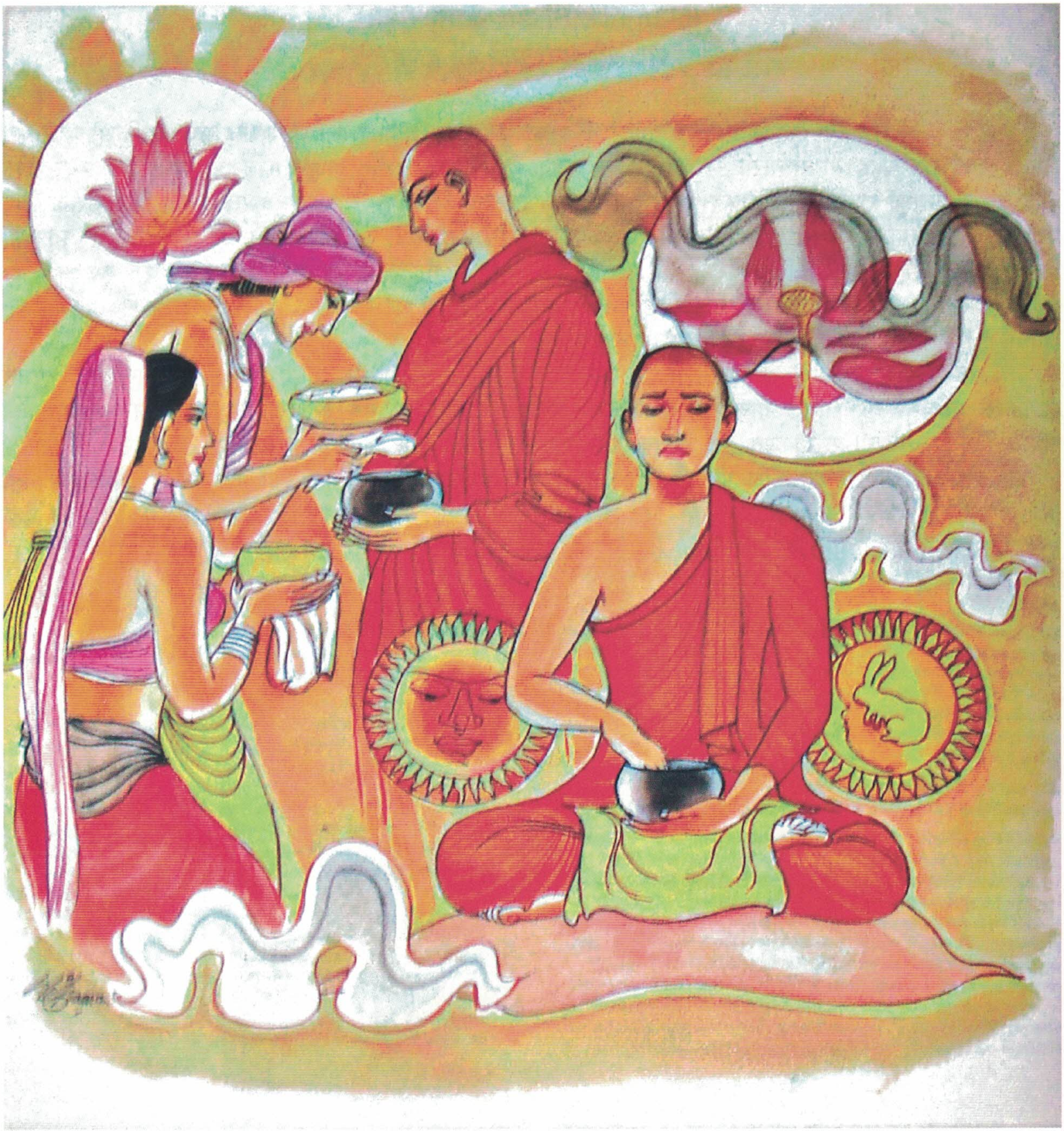
अर्थ: हे पुरुष ! कृपया यह जान लो कि अगर तुम संयम रहित हो तो तुम लोक में पाप कर्म ही करते रहोगे। अगर ऐसा हुआ तो तुम्हें लोभ और अधर्म अनन्त काल तक जलाता रहेगा।

सावधान ! लोभ और अधर्म से बचें
पाँच सौ उपासकों की कथा

बौद्ध धर्म गृहस्थ से उस प्रकार के शील की आशा नहीं करता जैसा कि संघ के किसी भिक्षु से। लेकिन कोई गृहस्थ है या संन्यासी - उर्ध्वमार्ग के पथिक के लिए शील का पालन अति आवश्यक है। अगर कोई बौद्ध धर्म में आस्था रखता है और बुद्ध, धर्म तथा संघ के त्रिरत्न को जीवन में धारण करता है तो फिर उसके लिए पंचशील का अनुपालन मानों पहली सीढ़ी है। उनका अनुपालन एक दिन, सप्ताह, महीना या सिर्फ वर्ष भर ही नहीं किया जाना चाहिए। वरन् जीवन पर्यन्त ही नहीं प्रत्येक जन्म में भी किया जाना चाहिए। हर पल, हर क्षण का महत्व है क्योंकि जैसे दुर्घटना एक पल में हो जा सकती है उसी प्रकार एक क्षण की असर्तकता से चूक हो जा सकती है। कहा भी गया है- "सतर्कता हटी, दुर्घटना घटी।"

पंचशील के अनुपालन में हमें इसलिए भी सावधानी बरतनी चाहिए क्योंकि सावधानी नहीं बरतने से किसी भी स्तर पर साधक द्वारा गलती होने पर शील भंग होने का भय बना रहता है । शील भंग होने की संभावना तब तक बनी रहेगी जब तक साधक स्रोतापन्न की स्थिति प्राप्त नहीं कर लेता है। तमाम सावधानियों के बावजूद संभव है कभी हमसे शील भंग हो जाए। तब अपनी असफलता या कमजोरियों पर रोने से कोई लाभ नहीं क्योंकि अफसोस करने से कुछ भी प्राप्त नहीं होने वाला है। इससे सिर्फ हमारा मन व्यथित होगा। उचित यही होगा कि अपनी गलती पुनः न दुहराने का दृढ़ निश्चय कर एक बार फिर आगे की ओर कूच कर जायें।





गाथा ददाति वे यथासद्धं, यथापसादनं जनो।
तत्थ यो च मड्कु होति, परेसं पानभोजने।
न सो दिवा वा रत्तिं वा, समाधिमधिगच्छति।।249।।

अर्थ: लोग दान प्राप्त कर्ता के ऊपर उनकी कितनी श्रद्धा और भक्ति है, इस पर दान देते है। जो दूसरों को खाता पीता देख जलने लगता है वह कभी भी न तो दिन और न रात में एकाग्रता प्राप्त कर सकेगा।

कौन एकाग्रता प्राप्त नहीं कर सकेगा ?
तिष्य भिक्षु की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

जेतवन विहार में अपने प्रवास के दौरान बुद्ध ने उक्त गाथाएं एक नवयुवक भिक्षु के संदर्भ में कही थीं।

कथानुसार तिष्य नाम का एक नवयुवक भिक्षु सदा दूसरों में दोष खोजा करता था। वह अनाथपिंडिक तथा विशाखा द्वारा दिए जा रहे दान में भी छिद्रान्वेषण करता था। उसकी टिप्पणी से कोई भी अछूता नहीं रह पाया था। राजा द्वारा दिए गए दान की भी निंदा करता था। अगर कोई उसे खाने की ठंढी चीज देता तो वह शिकायत करता कि यह चीज ठंढी है और अगर कोई गर्म चीज देता तो वह शिकायत करता कि यह चीज गर्म है। अगर कोई उसे थोड़ी खाद्य सामग्री देता तो वह शिकायत करता, "इतनी कम मात्रा में क्यों दे रहे हो ?" और यदि कोई पर्याप्त मात्रा में भोजन देता तो उसकी भी निन्दा करते हुए कहता, "इतना अधिक क्यों दे रहे हो ? पात्र में वैसे ही जूठा छूट जाएगा। घर में रखने के लिए जगह नहीं है क्या ? भिक्षु को तो अल्पाहारी होना चाहिए। बर्बाद करने से क्या लाभ ?" आदि, आदि। दूसरी ओर उसे जब भी अवसर प्राप्त होता, अपने परिवार के सदस्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा किया करता था। अपने परिवार वालों के संदर्भ में वह अक्सर कहा करता, "हमारा और हमारे सम्बन्धियों का घर तो कुएं के समान है जिसका पानी कभी समाप्त नहीं होता। कोई भी आये और जिसे जितना चाहिए ले जाए। मुँह माँगा दान मिलेगा।" इस प्रकार वह सदैव अपने परिवार की प्रशंसा किया करता था।

वास्तव में तिष्य एक द्वारपाल का पुत्र था। एक बार वह कुछ बढ़ई लोगों के साथ कहीं जा रहा था। रास्ते में उसे संसार से वैराग्य उत्पन्न हो गया। इसलिए श्रावस्ती पहुँच कर उसने संसार से संन्यास ले लिया और एक भिक्षु बन गया।





गाथा यस्स चेतं समुच्छिन्नं, मूलघच्चं समूहतं।
स वे दिवा वा रत्तिं वा, समाधिमधिगच्छति।।250।।

अर्थः जिसके चित्त से उपरोक्त जलन का समूल नाश हो गया है, वह दिन-रात, सदैव शांतचित्त रहकर सदैव आसानी से एकाग्रता प्राप्त कर लेगा।

कौन एकाग्रता प्राप्त करेगा ?
तिष्य भिक्षु की कथा

तिष्य द्वारा निरंतर निन्दा और स्तुति सुनते-सुनते जब सभी भिक्षुओं के कान पक गए तब उन्होंने सोचा, "क्यों न हम तिष्य के परिवार वालों की वास्तविकता की जाँच करें कि तिष्य की बातों में कितनी सच्चाई है ?" इसलिए उन्होंने उससे पूछा,"भन्ते! तुम्हारे परिवार के सदस्यगण कहाँ रहते हैं ?" तिष्य ने जवाब दिया,"फलाँ, फलाँ गाँव में।" तब भिक्षुओं ने कुछ तरुण भिक्षुओं को उस गाँव में वस्तुस्थिति पता लगाने के लिए भेजा। गाँव वासियों ने उन तरुण भिक्षुओं का स्वागत किया। उन्होंने उनके आवास और भोजन की व्यवस्था भी कर दी। युवक भिक्षुओं ने ग्रामवासियों से पूछा, "इस गाँव का एक युवक गाँव से निकलकर भिक्षु बना है। उसके परिवार वाले कौन हैं ? उसका नाम तिष्य है।" ग्राम वासियों ने सोचा, "हमारे कुल गृह से तो कोई भी अभी तक भिक्षु नहीं हुआ है। ये नवयुवक क्या पूछ रहे हैं ?" फिर सोचकर उन्होंने उन भिक्षुओं से कहा, "भन्ते ! हमारे एक द्वारपाल का पुत्र कुछ बढ़ई लोगों के साथ बाहर गया था और उधर ही श्रावस्ती में उसने संसार से संन्यास ले लिया। संभवतः आप उसकी ही चर्चा कर रहे हैं। आप उसी के विषय में तो नहीं पूछ रहे हैं ?" इस प्रकार उन भिक्षुओं ने तिष्य के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त कर ली कि उसका कोई ऐश्वर्यवान सम्बन्धी उस ग्राम में नहीं रहता था। वे वहाँ से श्रावस्ती वापस आ गए और अपने से वरीय भिक्षुओं को सच्चाई बता दी, "भन्ते ! तिष्य अकारण ही सभी जगह अपने बारे में बढ़ा-चढ़ाकर बोलता रहता है।" इस प्रकार भिक्षुओं के समक्ष तिष्य के वाग्जाल की पोल पूरी तरह खुल गई।

बात बुद्ध तक पहुँची। तब बुद्ध ने कहा, "शिष्यों ! ऐसा पहली बार नहीं हुआ है कि तिष्य बढ़ा-चढ़ा कर बोल रहा है। इससे पूर्व जन्म में भी वह नमक-मिर्च मिलाकर बातें करता रहा है। पहले भी वह बिना किसी बात के अपनी डफली, अपना राग बजाता रहा है।" शिष्यों ने उसके पूर्व जन्म की कहानी विस्तार से जाननी चाही। तब तथागत ने कटाहक जातक की कथा सुनाई और उपदेश दिया, "भिक्षुओं ! जो कलुषित हृदय का पुरुष, दूसरों द्वारा थोड़ा या बहुत रूखा-सूखा दान दिए जाने पर, या दूसरों को दिए जाने पर और स्वयं को नहीं दिये जाने पर दुखी हो जाता है, उसको ध्यान तथा विपश्यना भावना या मार्गफल प्राप्त नहीं होता।"

इस प्रकार उपदेश देकर बुद्ध ने उक्त गाथाएं कहीं।





गाथा नत्थि रागसमो अग्गि, नत्थि दोससमो गहो।
नत्थि मोहसमं जालं, नत्थि तण्हासमा नदी।।251।।

अर्थः संसार में रागाग्नि से बढ़कर कोई अग्नि नहीं है, द्वेष के समान कोई ग्रहण नहीं है, मोह के समान कोई मायाजाल नहीं है और तृष्णा के समान गहरी कोई नदी नहीं है।

राग की आग : न बुझने वाला दावानल
पंच उपासकों की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

यह देशना बुद्ध ने पाँच उपासकों को ध्यान में रखकर कही थी।

कथानुसार एक बार पाँच उपासक धर्म-उपदेश सुनने की इच्छा से बुद्ध के पास जाकर बैठ गए। तथागत उन पाँचों को गम्भीर उपदेश देने लगे। स्थविर आनन्द वहीं पर शास्ता को पंखा झल रहे थे और इन उपासकों को देख रहे थे।

आनन्द ने देखा कि उन पाँच श्रोताओं में से एक बैठे ही बैठे सोने लगा, दूसरा जमीन पर अँगुली से लकीर खींच रहा था, तीसरा एक वृक्ष के पत्तों और डाली को हिलता हुआ देखकर प्रसन्न हो रहा था, चौथा सिर्फ आकाश की ओर देखे जा रहा था। सिर्फ पाँचवाँ उपासक ध्यानचित्त हो एकाग्रता पूर्वक बुद्ध-प्रवचन सुन रहा था।

आनन्द इन उपासकों की गतिविधियों को देखकर अपने आप को रोक नहीं सके। उन्होंने शाक्य-मुनि से कहा, "भन्ते ! आप इतना प्रयत्न कर इन सबों को प्रेमपूर्वक प्रवचन दे रहे हैं पर इनमें से एक को छोड़ कर और कोई भी आपका धर्म प्रवचन ध्यान-पूर्वक नहीं सुन रहा है।"

तब बुद्ध ने आनन्द को समझाया कि ये पाँचों उपासक अपने-अपने पूर्व जन्म की आदतों से लाचार थे।

पहला उपासक पाँच सौ जन्मों तक नाग योनि में पैदा होता रहा। अतः फण पर सिर रखकर सोना उसकी आदत बन गई है। दूसरा उपासक पाँच सौ वर्षों तक केचुआ की योनि में रहा। अतः जमीन पर मिट्टी खोदना उसकी आदत बन गई है। तीसरा उपासक अपने पूर्व जन्मों में बंदर था। अतः वह वृक्ष की डाली और पत्तों को हिलता-डोलता देख प्रसन्न होता था। चौथा उपासक पिछले पाँच सौ वर्षों से ग्रह-नक्षत्र का अध्ययन करता रहा है। अतः वह सदैव आकाश की ओर ही ध्यान गड़ाये रहता है। हाँ, पाँचवाँ उपासक पूर्व जन्मों में भी धर्म पारायण था। अतः इस जन्म में भी उसकी धर्मश्रवण में रुचि रही है।

तब आनन्द ने शास्ता से पूछा, "क्या कारण है कि इंसान धर्म के मार्ग पर चल नहीं पाता है ?" तब बुद्ध ने जवाब दिया, "आनन्द ! लोग राग, द्वेष, तृष्णा और मोह में लिप्त होने के कारण धर्मोपदेश ग्रहण नहीं कर पाते। राग के समान इस सृष्टि में कोई अग्नि नहीं है। वह प्राणी को जलाने के बाद जरा सा भस्म भी नहीं छोड़ती है। यह समझो कि प्रलय के समय जो सात सूर्य उदित होते हैं वे भी राग के सामने कमजोर पड़ जाते हैं। वे जब सृष्टि को जलाते हैं तो प्रकृति में कुछ न कुछ अनजला हुआ छूट जाता है। पर इस रागाग्नि से हर प्राणी पूर्णतः जलकर राख हो जाता है। सात सूर्यों की गर्मी तो बहुत समय के अन्तराल के बाद, कभी-कभी पैदा होती है। पर रागाग्नि के पैदा होने का कोई समय नहीं है। यह कभी भी पैदा होकर प्राणी को भस्मीभूत कर सकती है। इस प्रकार राग से बढ़कर कोई आग नहीं है, द्वेष के समान कोई ग्रहण, मोह के समान कोई मायाजाल तथा तृष्णा के समान कोई गहरी नदी नहीं है।"





गाथा सुदस्सं वज्जमञ्ञेसं, अत्तनो पन दुद्दसं।
परेसं हि सो वज्जानि, ओपुनाति यथा भुसं।
अत्तनो पन छादेति, कलिंव कितवा सठो।।252।।

अर्थ: पर दोष देखना आसान है, अपना दोष देखना कठिन। आदमी दूसरों के दोषों को भूसे की तरह फैलाता है ताकि सभी देख सकें। परन्तु अपने दोषों को इस प्रकार छिपाता है जैसे एक धूर्त जुआरी अपने पासे को छिपाता है या जैसे एक धूर्त बहेलिया पक्षियों को मारने के उद्देश्य से अपने आप को पेड़ों के पत्तों से छिपाता है।

दूसरों का दोष देखना आसान है, अपना कठिन
मेण्डक श्रेष्ठी की कथा

स्थान : जातिवन (भद्दियनगर)

भद्दिय नगर में वास करते समय बुद्ध ने यह गाथा मेण्डक के एक धनी श्रेष्ठी एवं उसके परिवार के सम्बन्ध में कही थी।

एक बार बुद्ध अंग-उत्तरा क्षेत्र में पधारे। उन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टि से देखा कि मेण्डक, उसकी पत्नी, उसके पुत्र, पुत्र-वधू, पोती और नौकर-सभी का स्रोतापन्न प्राप्त करने का समय आ गया। उनका कल्याण करने के उद्देश्य से बुद्ध भद्दिय नगर पधारे।

मेण्डक एक बहुत ही धनी श्रेष्ठी था। कहा जाता था कि उसके आँगन में भेंड़-बकरियों के आकार की स्वर्ण-मूर्तियाँ रखी थीं। इसलिए लोग उसे मेण्डक (भेंड़) श्रेष्ठी कहकर पुकारते थे।

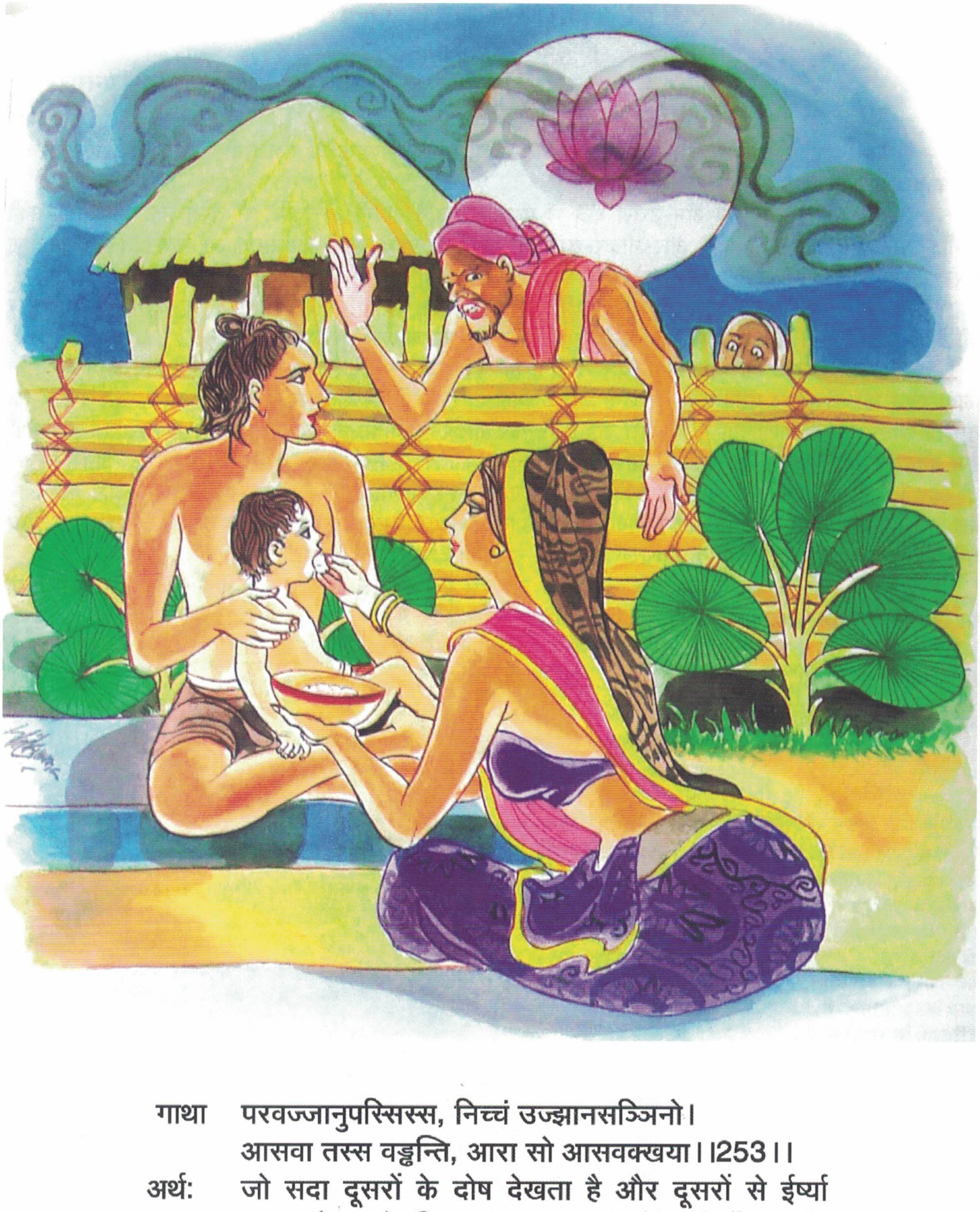
मेण्डक और उसके परिवार ने सुना कि बुद्ध भद्दिय पधारे हैं। अत: वे उनका दर्शन-लाभ करने के लिए भद्दिय की ओर चल पड़े। रास्ते में उन्हें तैर्थिक मिले और उन्होंने मेण्डक से पूछा, "गृहस्थ ! ऐसा कैसे है कि तुम तो आत्मा की क्रियाशीलता में विश्वास रखते हो फिर भी अनात्मवादी, अक्रियावादी गौतम के पास जा रहे हो।" इस प्रकार तैर्थिकों ने उसे और उसके परिवार को रोकना चाहा। लेकिन मेण्डक ने उनकी बातों को अनसुनी कर दी और विहार की ओर कूच कर गया। विहार पहुँच कर उसने शास्ता को श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया और एक ओर बैठ गया। तब बुद्ध ने उसे क्रमबद्ध तरीके से धर्म पाठ सुनाया। धर्मदेशना सुनकर मेण्डक, पत्नी चंद्रप्रभा, पुत्र धनंजय, पुत्रवधू सुमन देवी, नतिनी विशाखा और पूर्ण नाम का दास, सभी स्रोतापन्न हो गए।

तब मेण्डक ने बुद्ध को बताया कि रास्ते में तैर्थिक मिले थे तथा उन्होंने मेण्डक को समझाया था कि वह बुद्ध के पास न जाए। वहाँ कोई लाभ मिलने वाला नहीं है।

बुद्ध ने उन्हें समझाया, "शिष्यों ! लोगों की प्रकृति है कि वे अपना दोष नहीं देखते हैं। दूसरी ओर वे अन्य लोगों के दोष और उनकी कमजोरियाँ बढ़ा-चढ़ाकर देखते हैं।"

तब उन्होंने यह गाथा कही।





गाथा परवज्जानुपस्सिस्स, निच्चं उज्झानसञ्जिनो।
आसवा तस्स वड्ढन्ति, आरा सो आसवक्खया।।253।।

अर्थः जो सदा दूसरों के दोष देखता है और दूसरों से ईर्ष्या करता है उसके चित्तमल लगातार बढ़ते जाते हैं। उसके चित्तमल का क्षय नहीं होता है।

चित्तमल क्यों बढ़ता है ?
थेर उज्झानसंज्ञि की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

बुद्ध ने यह गाथा जेतवन विहार में कही थी।

थेर उज्झानसंज्ञि की आदत थी कि वे सदा दूसरों के दोष ढूँढ़ निकालते थे और दूसरों की निन्दा किया करते थे। भिक्षुओं ने बुद्ध को इस बात की जानकारी दी। तब बुद्ध ने उन्हें समझाया, "भिक्षुओ ! यदि कोई दूसरों के दोष इसलिए ढूँढ़ता है कि वह उन्हें बता सके और उनका सुधार कर सके तो उसमें कोई दोष नहीं है। वह व्यक्ति कोई गलत काम नहीं कर रहा है। लेकिन अगर कोई सदैव दूसरों के दोष मात्र ढूँढ़ने के उद्देश्य से ढूँढ़ता रहता है और उनकी निन्दा करता रहता है तो वह व्यक्ति निश्चय ही गलत काम कर रहा है। ऐसे व्यक्ति का चित्त ध्यान में नहीं लगेगा और उसे ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। उसे धर्म के तत्व समझ में नहीं आयेंगे और उसके आस्रव बढ़ते ही जायेंगे।"

तब बुद्ध ने यह गाथा कही।





गाथा: आकासे पदं नत्थि, समणो नत्थि बाहिरे।
पपच्चाभिरता पजा, निप्पपञ्चा तथागता।।254।।

अर्थ: आकाश में कोई पदचिन्ह नहीं होता है अर्थात् उसका वर्ण या आकार नहीं होता है। बुद्ध के शासन के बाहर के संप्रदायों के साधनामार्ग द्वारा कोई श्रमण नहीं होता। लोग सांसारिक प्रपंचों में खोये रहते हैं परन्तु शाक्य-मुनि इन सभी प्रपंचों से ऊपर उठ चुके हैं।

बुद्ध शासन की विशेषता
परिव्राजक सुभद्र की कथा
स्थान : कुसीनगर (कुसिनारा)

कुसिनारा के मल्ल राजाओं के शाल जंगलों में बुद्ध ने इन गाथाओं को महापरिनिर्वाण से पूर्व सुभद्र के प्रश्न के उत्तर में कहा था।

कथा के अनुसार सुभद्र के छोटे भाई ने नौ बार नई फसल की उपज से भिक्षुसंघ को भोजन-दान दिया था पर सुभद्र को इस प्रकार के भोजन-दान में कोई रुचि नहीं थीं । लेकिन अंततः उसने भोजन-दान दिया। बुद्ध के महापरिनिर्वाण का समय आ गया था। सुभद्र ने सोचा, "मैं तीन प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ रहा हूँ। मैंने अनेक संन्यासियों से उनका उत्तर ढूँढ़ने की कोशिश की पर सफल नहीं हुआ। मैं बुद्ध को सदैव नौसिखुआ सोचता रहा। यह सोच मैंने उनसे शंका समाधान के लिए कभी प्रश्न नहीं किया। अब उनके महापरिनिर्वाण का समय आ गया है। अगर अभी भी मैं अपने प्रश्नों का समाधान प्राप्त नहीं करता हूँ तो मुझे इस बात का सदैव दुःख रहेगा।" इसलिए वह बुद्ध का दर्शन करने जा पहुँचा।

भन्ते आनन्द ने उसे बुद्ध दर्शन से रोकने की चेष्टा की। लेकिन बुद्ध ने आनन्द को समझाया, "आनन्द, सुभद्र को मत रोको। उसे आने दो और प्रश्न पूछने दो।" इस प्रकार सुभद्र बुद्ध के पास पहुँचा और चरण-स्पर्श कर, तीन प्रश्न किए, "पहला : क्या आकाश में पद होते हैं, क्या आकाश में पदचिन्ह बनते हैं ? दूसरा : क्या संघ ही मात्र श्रमण है या संघ से बाहर भी कोई श्रमण है ? तीसरा : क्या संस्कारों में शाश्वत के अस्तित्व को सिद्ध किया जा सकता है ?"





गाथा: आकासेव पदं नत्थि, समणो नत्थि बाहिरे।
संखारा सस्सता नत्थि, नत्थि बुद्धानमिञ्जितं।।255।।

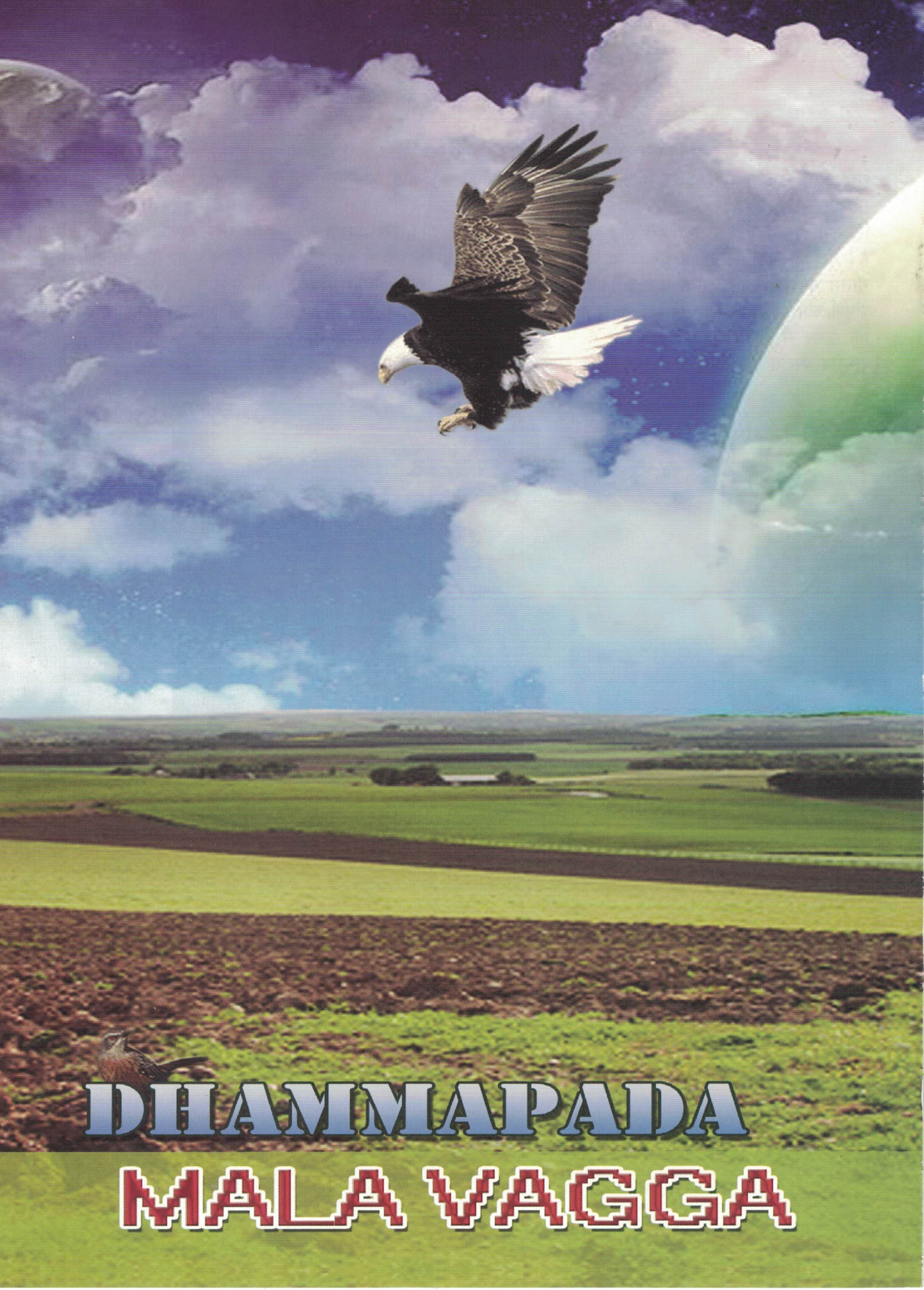
अर्थ: आकाश में कोई पदचिन्ह नहीं होता है अर्थात् उसका वर्ण या आकार नहीं होता है। बुद्ध के शासन के बाहर के सम्प्रदायों के साधनामार्ग द्वारा कोई श्रमण नहीं होता। संस्कार शाश्वत नहीं होते। इसके विपरीत बुद्ध ही शाश्वत हैं। उनमें अस्थिरता और चंचलता नहीं होती।

बुद्ध शासन ही शाश्वत है
परिव्राजक सुभद्र की कथा

बुद्ध सामान्यतः ऐसे कौतूहल भरे प्रश्नों का उत्तर नहीं देते थे पर सुभद्र उनका अंतिम अनुयायी था। अतः उन्होंने उसे उत्तर दे समझाया कि इन चीजों का कोई अस्तित्व नहीं है,। फिर उन्होंने इन गाथाओं के माध्यम से शिक्षा दी।

टिप्पणी: सुभद्र बुद्ध से प्रव्रजित होने वाला अंतिम संन्यासी था। इस कारण बौद्ध साहित्य में उसका विशिष्ट स्थान है। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के समय यह घुमक्कड़ साधु कुशीनगर में रह रहा था। उसने सुना कि रात्रि में भन्ते गौतम महापरिनिर्वाण प्राप्त कर लेंगे। तो उसने सोचा, "मैंने बड़े - बुजुर्ग शिक्षकों का प्रवचन सुना है । संसार में संपूर्ण रूप से अर्हत शिक्षकों का उदय कभी-कभी ही होता है। आज बुद्ध परिनिर्वाण प्राप्त कर लेंगे। मुझे विश्वास है कि अगर मैं उनसे प्रश्न करूँगा तो वे मेरी शंकाओं का समाधान अवश्य ही कर देंगे। इस प्रकार सुभद्र बुद्ध के सम्मुख प्रस्तुत हुआ और इन गाथाओं के श्रवण से लाभान्वित हुआ।"





DHAMMAPADA

MALA VAGGA

सत्यधर्म की कुटिया

धम्मपद

धर्मस्थ वर्ग

गाथा और कथा



सत्यधर्म की कुटिया

धम्मपद

धर्मस्थ वर्ग

गाथा और कथा

संस्कारक
हृषीकेश शरण

विषय सूची

धर्मस्थ वर्ग



गाथा: न तेन होति धम्मट्ठो, येनत्थं सहसा नये ।
यो च अत्थं अनत्थञ्च, उभो निच्छेय्य पण्डितो ।।256।।

अर्थ: जो निर्णय देने वाला, बिना सोचे-समझे, अन्यायपूर्ण निर्णय देता है वह "धर्म में स्थित निर्णायक" नहीं कहा जा सकता। अर्थ और अनर्थ दोनों पर ही जो विचार करे और फिर निर्णय देवे, वही सत्यवादी न्यायी कहलाता है।

न्याय की तराजू पर न्याय करना
न्यायाधीश की कथा

स्थान : श्रावस्ती जेतवन

इन दोनों गाथाओं को बुद्ध ने कुछ घूसखोर न्यायाधीशों के संदर्भ में कहा था।

एक दिन कुछ भिक्षुगण श्रावस्ती नगर के उत्तरी द्वार के पास स्थित ग्राम में भिक्षाटन के लिए गए। भिक्षाटन से निवृत्त हो उत्तर द्वार से वे नगर में प्रवेश कर गए। भिक्षाटन से बौद्ध विहार लौटते हुए उन्हें नगर के मुख्य मार्ग से आना पड़ा जहाँ न्यायाधीशों के कार्यालय भी थे। जब वे नगर के मध्य से गुजर रहे थे, आकाश में बादल छा गए और वर्षा होने लगी। वर्षा से बचने के लिए उन्हें एक छत चाहिए थी। इधर-उधर और कुछ तो दिखा नहीं। सामने न्यायाधीशों की एक अदालत दिखी और बारिश से बचने के लिए वे उसमें घुस गए। उस न्यायालय में उन्होंने न्यायाधीशों को रिश्वत लेते हुए देखा। वे विवाद में उभय पक्षों के विवाद को इंसाफ के तराजू पर तौलकर निर्णय देने के बजाय जो विवाद में सही नहीं था उससे रिश्वत लेकर, उसके पक्ष में निर्णय दे रहे थे। इसे देखकर उन्होंने सोचा, "अरे ये न्यायाधीश तो अधर्मी हैं ! अभी तक हम समझते थे कि ये न्याय की कुर्सी पर बैठकर इंसाफ के पक्ष में फैसला देते होंगे। ये तो असत्य मार्ग का आचरण कर अधार्मिक निर्णय दे रहे हैं। हम तो इन्हें धर्म पर आश्रित होकर निर्णय देने वाला समझते थे।"

थोड़ी देर बाद जब वर्षा रुक गई तो वे अदालत से बाहर निकले और बौद्ध विहार चले गए। वहाँ पहुँचने पर उन्होंने तथागत को सारी बातें बताईं कि किस प्रकार न्यायाधीशगण रिश्वत लेकर, न्याय का गला घोंटकर, गलत एवं अन्यायपूर्ण निर्णय दे रहे थे।

तब बुद्ध ने उन्हें समझाया, "भिक्षुओं ! जो न्यायाधीश, स्वेच्छाचारी होकर, अधर्म पर आधारित निर्णय देते हैं वे न्यायाधीश धार्मिक नहीं कहला सकते। इसके विपरीत जो न्यायाधीश अपराध की गहराई में जाते हैं और अंत:स्थल तक पहुँचकर निर्णय देते हैं, वे ही वस्तुतः धार्मिक कहलायेंगे।"





गाथा: असाहसेन धम्मेन, समेन नयती परे ।
धम्मस्स गुत्तो मेधावी, "धम्मट्ठो" ति पवुच्चति ।।257।।

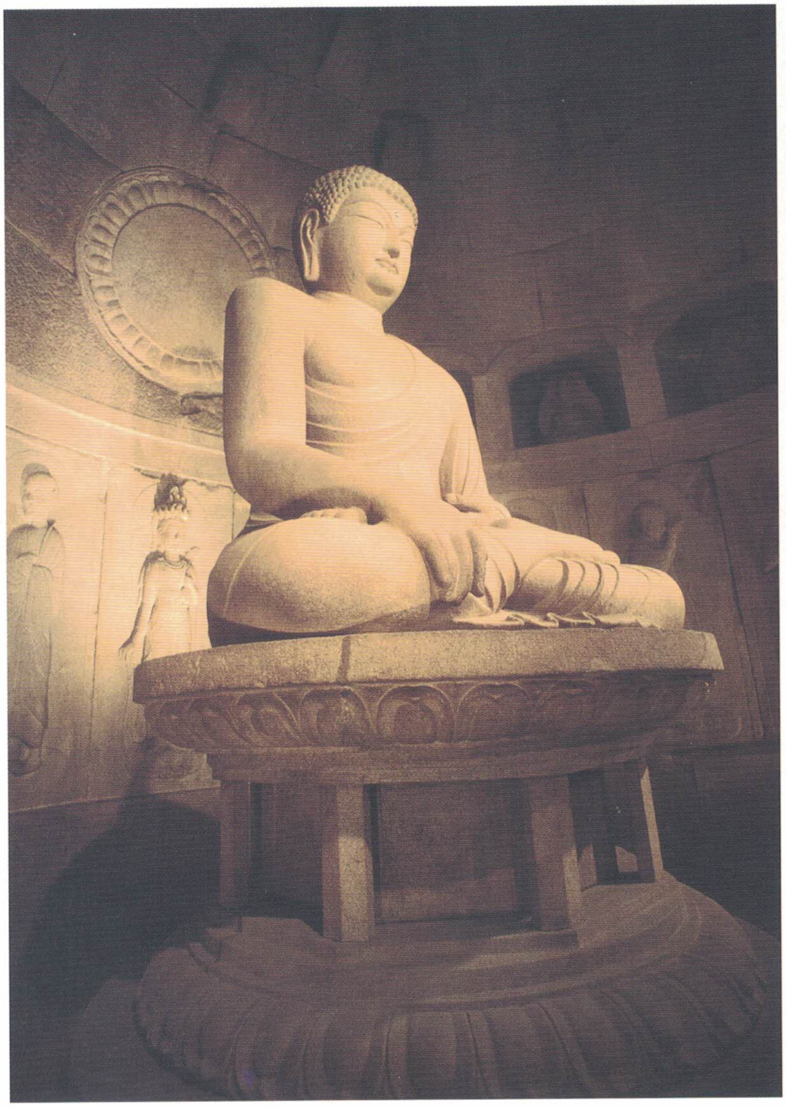
अर्थ: जो सत्य और असत्य दोनों का निर्णय कर, विचार करके, धर्म पर आश्रित होकर, पक्षपात से ऊपर उठकर न्याय करता है वही धर्म की रक्षा करने वाला सच्चा न्यायाधीश कहलाता है।

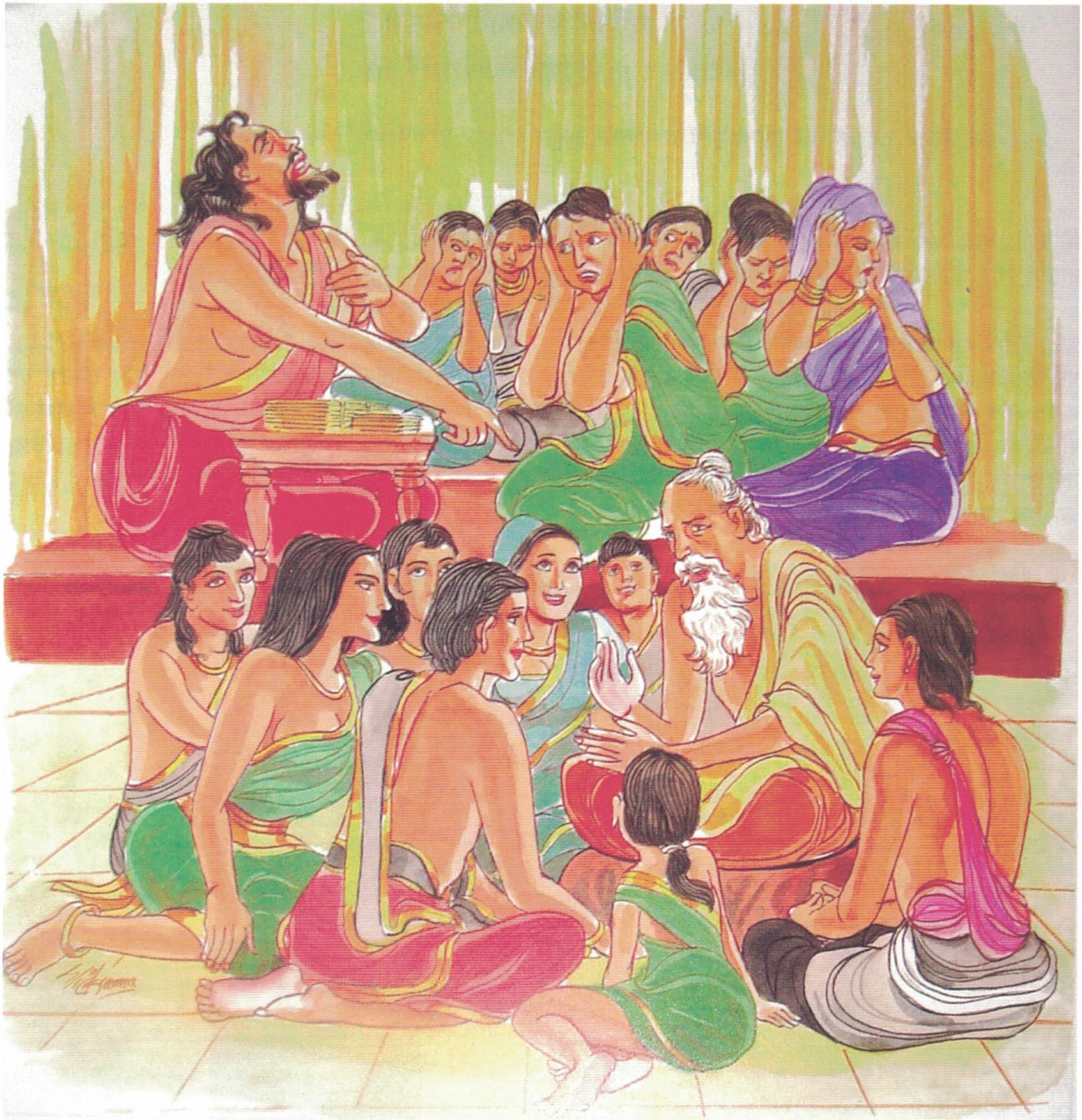
धर्ममार्ग पर न्यायी कौन है ?
न्यायाधीश की कथा

इस प्रकार उपदेश देते हुए बुद्ध ने ये गाथायें कहीं।

टिप्पणी: बौद्ध धर्म की रीढ़ है - "कर्म का सिद्धान्त" अर्थात् हम जैसा बोयेंगे, वैसा ही काटेंगे। काँटे बोयेंगे तो काँटे काटेंगे और फूल बोयेंगे तो फूल ही काटेंगे। यह प्रकृति का शाश्वत नियम रहा है, और सदैव रहेगा।

उसी प्रकार बुरे कर्म करने वाला अपने लिए बुरे फल का प्रबंध कर चुका है।अब यह मात्र समय की बात है कि वह फल आज ही काट ले या कल काटे या परसों या फिर तरसों। संभव है इस जन्म में नहीं काटना पड़े पर उसका अर्थ यह नहीं कि उसे उस फल को काटने से मुक्ति मिल गई। मुक्ति नहीं मिली है; फल काटने का समय मात्र थोड़ा आगे बढ़ गया है। इस प्रकार गलत निर्णय देने वाले न्यायाधीश ने अपने लिए अपनी सजा आज ही सुनिश्चित कर ली है। उस निर्णय को मात्र सुरक्षित रखा गया है और जैसे ही उपयुक्त समय होगा, उस न्यायाधीश को उसके किए का फल सुना दिया जायेगा। अतः गलत निर्णय देकर इस कथा के सभी न्यायाधीशों ने अपने बचाव का पूरा अवसर गँवा दिया।





गाथा: न तेन पण्डितो होति, यावता बहु भासति ।
खेमी अवेरी अभयो, "पण्डितो" ति पवुच्चति ।।258।।

अर्थ: बहुत बोलने से कोई पंडित नहीं हो जाता है। वरण जो क्षमाशील, अवैरी और निर्भय होता है, वही पंडित कहा जाता है।

ज्यादा बोलना ज्ञानी की निशानी नहीं है।
षड्वर्गीय भिक्षुओं की कथा

स्थान : श्रावस्ती जेतवन

बुद्ध ने यह गाथा षड्वर्गीय भिक्षुओं के संदर्भ में कही थी।

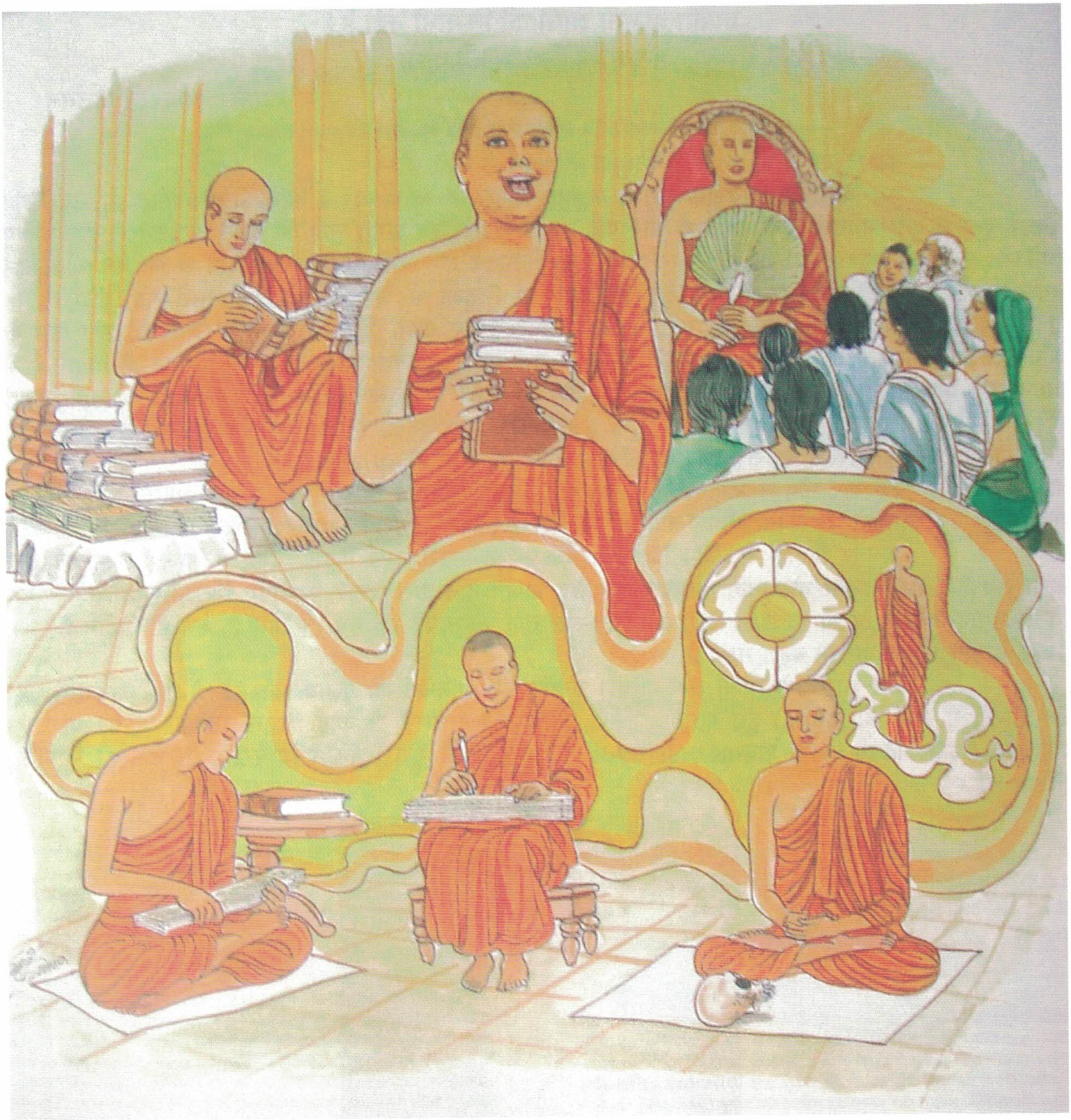
बुद्ध-विहार में षड्वर्गीय भिक्षुओं का एक समूह भी रहता था। वे बहुत ही असंयमित थे, उदंड थे। अक्सर कुछ न कुछ गड़बड़ी करते रहते थे और गाँव हो या विहार- हर जगह सबों को अपने आचरण से दु:खी किए रहते थे। एक दिन कुछ युवा भिक्षु और श्रामनेर गाँव से भिक्षाटन कर अभी विहार में लौटे ही थे कि षड्वर्गीय भिक्षु उनसे कुछ प्रश्न करने लगे। तब उन भिक्षुओं ने षड्वर्गीय भिक्षुओं से कहा, "भन्ते, यह हमसे मत पूछिए।" यह सुनकर षड्वर्गीय भिक्षु बहुत नाराज हो गए और उन्हें धमकाते हुए कहा, "तुम हमको ऐसा उत्तर देते हो। बड़ों के साथ इस प्रकार जवाब देते हो। हम विद्वान हैं, समझ में नहीं आता। दिखता नहीं कि यहाँ सिर्फ हम ही विद्वान हैं ? हमारे साथ ठीक से बातें करो और हमारे प्रश्नों का ठीक से उत्तर दो। हमारी समझ और बुद्धिमत्ता को नहीं जानते हो। हम इतने समझदार और बुद्धिमान हैं कि तुम्हारे इस अपराध के बदले, हम चाहें तो तुम्हारे सिर पर गन्दगी का कूड़ा डालकर तुम्हें विहार से बाहर निकाल दें" ऐसा कहकर वे अपनी विद्वता झाड़ने लगे।

एक बार गाँव में भोजन दान हुआ। वहाँ पर ये षड्वर्गीय भिक्षु भी गए और ये श्रामनेर भी। वहाँ पर भी ये भिक्षु उन श्रामनेरों पर अपनी विद्वता बघारने लगे और उनके ऊपर बर्त्तन और भोजन फेंकने लगे।

श्रामनेर विहार में लौटे। विहार के भिक्षुओं ने उनसे प्रश्न किया, "भिक्षुओं आज का भोजन दान कैसा रहा ? " तब श्रामनेर बोल उठे, "भन्ते, मत पूछिए भोजन दान कैसा रहा? षड्वर्गीय भिक्षुओं ने हमें तबाह कर दिया। हमारे ऊपर जूठा भोजन डाल दिया और अंत-अंत तक कहते रहे कि हम ही शांत हैं, हम ही विद्वान हैं। इस प्रकार उन्होंने भोजन दान में बहुत गड़बड़ी की।"

बात शास्ता के कानों तक पहुँची। उन्होंने उन श्रामनेरों को बुलाया और उनसे पूरी जानकारी ली। तब शास्ता ने सबों को समझाते हुए बताया, "सिर्फ ज्यादा भाषण करने से कोई विद्वान नहीं हो जाता। वरन् जो शांतिप्रिय है और किसी से भी शत्रुभाव नहीं रखता और इस प्रकार दूसरों को अभय रखता है, उसे ही मैं पंडित मानता हूँ।"





गाथा: न तावता धम्मधरो, यावता बहु भासति ।
यो च अप्पम्पि सुत्वान, धम्मं कायेन पस्सति ।
स वे धम्मधरो होति, यो धम्मं नप्पमज्जति ।।259।।

अर्थ: बहुत बोलने से कोई धर्मधर नहीं हो जाता। वरण जो थोड़ा सुनकर भी धर्म से साक्षात्कार करता है, जो धर्म में प्रमाद नहीं करता, वही धर्मधर कहलाता है।

सही धर्मधर कौन है ?
थेर एकूदान की कथा

स्थान : श्रावस्ती जेतवन

यह गाथा बुद्ध ने एक भिक्षु के संदर्भ में कही जो अर्हत हो गया था।

यह भिक्षु श्रावस्ती के पास ही एक वन-खंड में रहता था। उसे लोग एकूदान कहकर पुकारते थे क्योंकि उसे एक ही (गाथा) उदान पूरी तरह याद थी। "उच्च विचारों वाले, सतत् सजग, क्षमाशील, सतर्क, शांत भिक्षु को दु:ख नहीं सताते।" लेकिन यह भिक्षु यद्यपि एक ही गाथा जानता था पर वह इस गाथा द्वारा प्रतिपादित अर्थ को पूरी तरह जानता था। प्रत्येक उपोसथ के दिन वह सबों को धर्म-श्रवण करने के लिए कहता था और स्वयं उस उदान को गाकर सुनाता था। उसकी एक ही गाथा को सुनकर वन देवता उसका साधुवाद करते थे और इस प्रकार वह जंगल उनकी प्रशंसा से गुंजित हो उठता था।

किसी उपोसथ के दिन दो ज्ञानी भिक्षु, जो त्रिपिटक के विद्वान थे, अपने भिक्षुओं के साथ वहाँ पधारे। एकूदान ने उन दोनों बुजुर्ग भिक्षुओं से धर्म प्रवचन करने की प्रार्थना की। उन्होंने जानना चाहा कि क्या इस दूर-दराज की जगह पर बहुत सारे श्रोतागण थे। एकूदान ने 'हाँ' में उत्तर दिया और यह भी कहा कि यहाँ वन देवता भी आते थे और धर्म-प्रवचन के बाद प्रशंसा करते थे तथा साधुवाद देते थे। इसलिए दोनों त्रिपिटकाचार्य ने एक-एक कर व्याख्यान दिया लेकिन जब उनके व्याख्यान समाप्त हुए, तब जंगल के देवतागण की ओर से किसी भी प्रकार का साधुवाद नहीं हुआ। दोनों ज्ञानी भिक्षु आश्चर्यचकित हो गए और उन्हें संदेह हुआ कि एकूदान ने सच कहा था या नहीं। लेकिन एकूदान ने दोहराया कि वन देवता सदा आते थे तथा गाथा के अंत में साधुवाद देते थे। अत: दोनों आचार्यों ने तब एकूदान को स्वयं शिक्षा देने के लिए कहा। एकूदान ने उसी एक गाथा को गाकर सुना दिया जो उसे याद था। उस गाथा के अंत में वन देवता पुन: सदा की तरह साधुवाद देने लगे। उन दोनों विद्वानों के साथ जो भिक्षु आए थे उन्होंने शिकायत की कि वन में रहने वाले देवता पक्षपात कर रहे थे। जेतवन विहार आने पर इस घटना की जानकारी शास्ता को दी गई। बुद्ध ने उन्हें समझाया, "भिक्षुगण ! मैं नहीं कहता कि एक भिक्षु जो बहुत कुछ जानता है और धर्म के बारे में बहुत कुछ बोल सकता है, वह सचमुच ही स्वयं धर्मनिष्ठ है। जिसने सिर्फ थोड़ा सीखा है और धर्म का सिर्फ एक पाठ ही जानता है पर चार आर्य सत्य को खूब अच्छी तरह समझता है और सदैव सतर्क और जागरुक रहता है, वस्तुत: वही धर्म में स्थित कहा जा सकता है।"





गाथा: न तेन थेरो सो होति, येनस्स पलितं सिरो ।
परिपक्को वयो तस्स, "मोघजिण्णो" ति वुच्चति ।।260।।

अर्थ: सिर्फ सिर के बाल सफेद हो जाने से कोई स्थविर नहीं कहला सकता। ऐसे व्यक्ति की आयु अवश्य परिपक्व हो गई है और वह वृथावृद्ध कहलाता है।

बाल सफेद होने मात्र से थेर नहीं
लकुण्टक भद्दिय थेर की कथा

स्थान : श्रावस्ती जेतवन

यह गाथा शास्ता ने जेतवन में स्थविर भद्दिय के संदर्भ में कही थी। उन्हें लकुण्टक भद्दिय भी कहा जाता था क्योंकि वे कद में बहुत छोटे थे।

एक दिन वह स्थविर शास्ता से मिलने गए। जब वह उन्हें प्रणाम कर जा रहे थे तब रास्ते में उसे तीस अरण्यक भिक्षुओं ने देखा। वे अरण्यक भिक्षु तथागत के पास आए, उन्हें सादर प्रणाम किया और आदरपूर्वक एक ओर बैठ गए। शास्ता ने अपनी अन्तर्दृष्टि से देख लिया कि इन भिक्षुओं में निकट भविष्य में अर्हत्व प्राप्ति की संभावना है; अतः उनसे पूछा, "क्या तुमने अभी-अभी यहाँ से गए स्थविर को देखा ?" "नहीं भन्ते, हमने किसी स्थविर को नहीं देखा।" "तो कोई दिखा था ?" "हाँ भन्ते ! एक श्रामनेर को देखा था।" "भिक्षुओं ! वह श्रामनेर नहीं था, वह तो स्थविर था।" "भन्ते ! उसकी आयु तो कुछ भी नहीं थी। वह तो उम्र में बहुत ही छोटा दिखाई दे रहा था।" "भिक्षुओं ! मैं उम्र से मात्र वृद्ध हो जाने वाले को या स्थविरासन मात्र पर विराजमान होने वाले को स्थविर नहीं कहता। हाँ, जो व्यक्ति सत्य का साक्षात्कार कर लेता है तथा सबों के साथ मैत्री की भावना रखता है, वस्तुतः वही स्थविर है।"

यह कहकर शास्ता ने ये दो गाथाएं कहीं।

टिप्पणी: "परिपक्व" का अर्थ क्या लेना चाहिए ? भौतिक शरीर की परिपक्वता या आन्तरिक शरीर की परिपक्वता ? अगर हम भौतिक शरीर की परिपक्वता से आध्यात्मिक प्रगति को जोड़ दें तो यह हमारी बहुत बड़ी भूल होगी। ऐसी सोच में यह दोष होगा कि किसी को कोई आन्तरिक यत्न नहीं करना पड़ेगा और मात्र समय के अन्तराल में वह श्रामनेर से स्थविर हो जाएगा और फिर अर्हत्व प्राप्त कर लेगा। इस प्रकार मनुष्य के जीवन में आन्तरिक संघर्ष और उर्ध्वदिशागामी होने की तीव्र तड़प का कोई महत्व नहीं होगा। निश्चय ही यह प्रकृति के नियम और विकास की प्रक्रिया के विपरीत होगा।





गाथा: यम्हि सच्चञ्च धम्मो च, अहिंसा संयमो दमो ।
स वे वन्तमलो धीरो, "थेरो" इति पवुच्चति ।।261।।

अर्थ: जो साधक सत्य, अहिंसा, शील तथा इन्द्रियसंयम में तिष्ट है, वही निर्मल धैर्यशाली 'स्थविर' कहलाता है।

आन्तरिक शुद्धि से ही थेर बनते हैं
लकुण्टक भद्दिय थेर की कथा

दूसरी बात यह है कि जो कुछ संघर्ष करके प्राप्त किया जाता है, लोग उसे ही मूल्यवान मानते हैं। संघर्ष ही जीवन, गति की पहचान है। एक उदाहरण है कि एक बार कक्षा में शिक्षक अपने शिष्यों को समझा रहे थे कि अंडे से तितली का बच्चा किस प्रकार निकलता है। उन्होंने समझाया कि तितली का बच्चा अंडे के अंदर सुप्त अवस्था में रहता है। समय के अन्तराल में उसमें गति आती है और उस गति से वह संघर्ष करना प्रारंभ कर देता है। गति की तीव्रता बढ़ती जाती है और जब वह एक शक्ति के रूप में परिणत हो जाती है तो वह तितली का बच्चा अंडे को फोड़कर तितली के रूप में बाहर निकल आता है। बच्चों को समझा कर शिक्षक कक्षा से बाहर चले गए पर जाते समय बच्चों को बताना नहीं भूले कि उस अंडे के साथ छेड़-छाड़ नहीं करना।

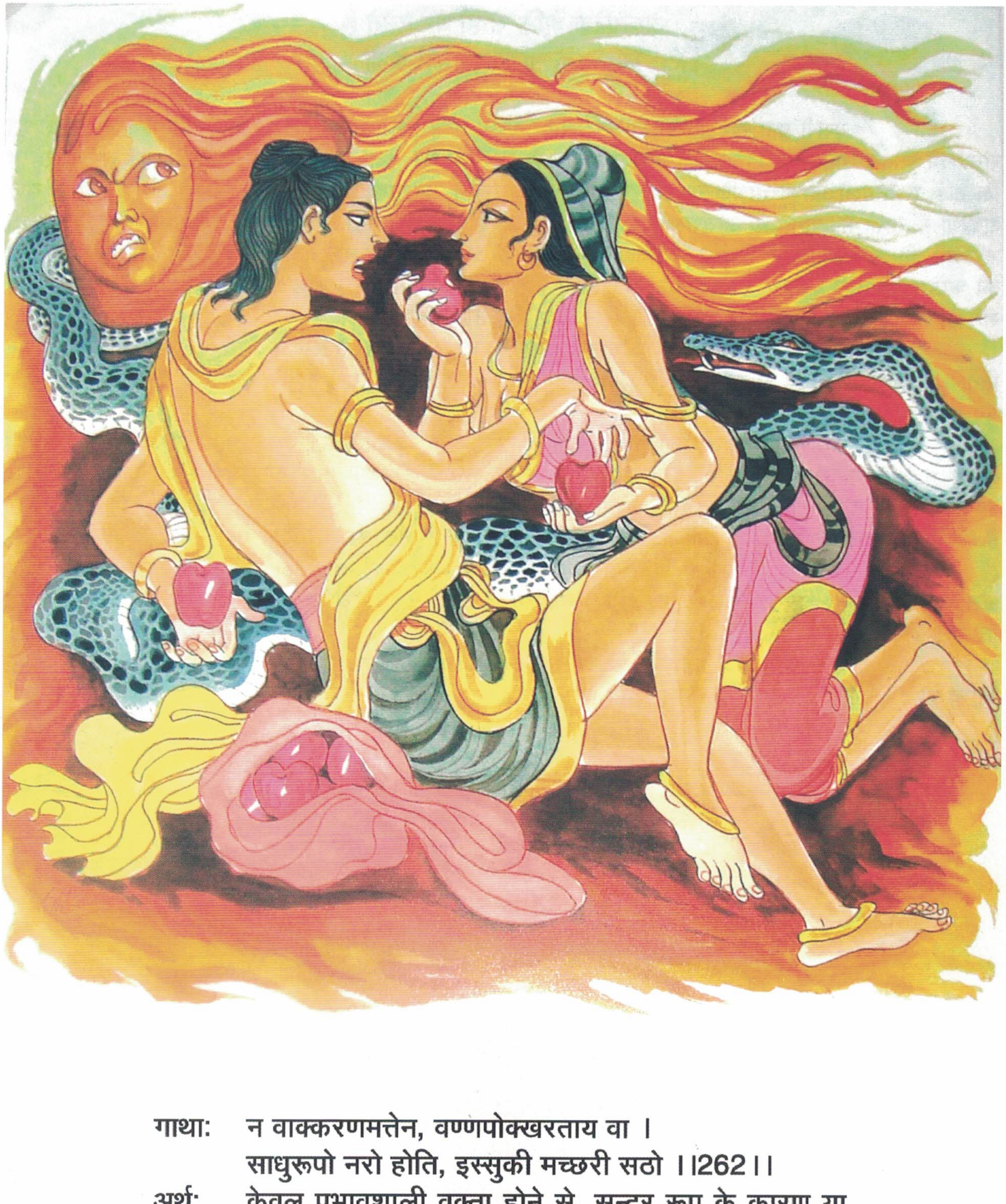
थोड़े समय बाद अंडा गतिमान हो गया। एक लड़के को तितली के बच्चे पर दया आ गई। उसने तितली के बच्चे को संघर्ष से बचाने के लिए क्या किया ? अंडा ही फोड़ दिया। नतीजा क्या हुआ ? तितली का बच्चा मर गया।

अतः संघर्ष करके जो प्राप्त किया जाता है वही मूल्यवान है। केवल बूढ़ा हो जाने से, संघर्ष के अभाव में, हमें जो सम्मान मिलेगा, वह मात्र उस उम्र के कारण मिलेगा। अगर कोई हमें सादर प्रणाम करे और सम्मान दिखाये तो हमें इस पर गर्व नहीं करना चाहिए। वह व्यक्ति मात्र भौतिक शरीर के प्रति श्रद्धा प्रकट कर रहा है, आन्तरिक शरीर के प्रति नहीं क्योंकि अन्दर से तो हम शून्य हैं, पूर्णतः खोखले हैं।

कहते हैं कि अर्हत्व दिया नहीं जाता है, संघर्ष कर, युद्ध कर प्रकृति से छीना जाता है। अगर यह अंश सही है तो फिर उम्र का कोई महत्व नहीं है क्योंकि किसी भी उम्र का व्यक्ति, किसी भी समय, किसी भी स्थान पर इसे छीन सकता है।

अतः छोटे कद के, कम उम्र के लकुण्टक भद्दिय थेर अगर श्रामनेर नहीं थे, स्थविर थे और शीघ्र ही अर्हत्व प्राप्त करने जा रहे थे तो इसमें आश्चर्य क्या था ?





गाथा: न वाक्करणमत्तेन, वण्णपोक्खरताय वा ।
साधुरूपो नरो होति, इस्सुकी मच्छरी सठो ।।262।।

अर्थ: केवल प्रभावशाली वक्ता होने से, सुन्दर रूप के कारण या दूसरों पर प्रभाव डालने की कला जानने के कारण एक लालची, ईर्ष्यालु, धोखेबाज व्यक्ति साधु नहीं हो जाता। ऐसा व्यक्ति 'साधु' नहीं कहला सकता।

बाहर से साफ, भीतर से गंदा : क्या लाभ ?
कुछ भिक्षुओं की कथा

स्थान : श्रावस्ती जेतवन

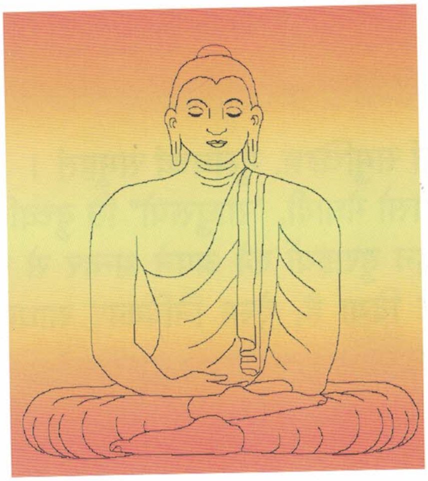
शास्ता ने ये दो गाथाएं कुछ भिक्षुओं के संदर्भ में जेतवन में कही थी।

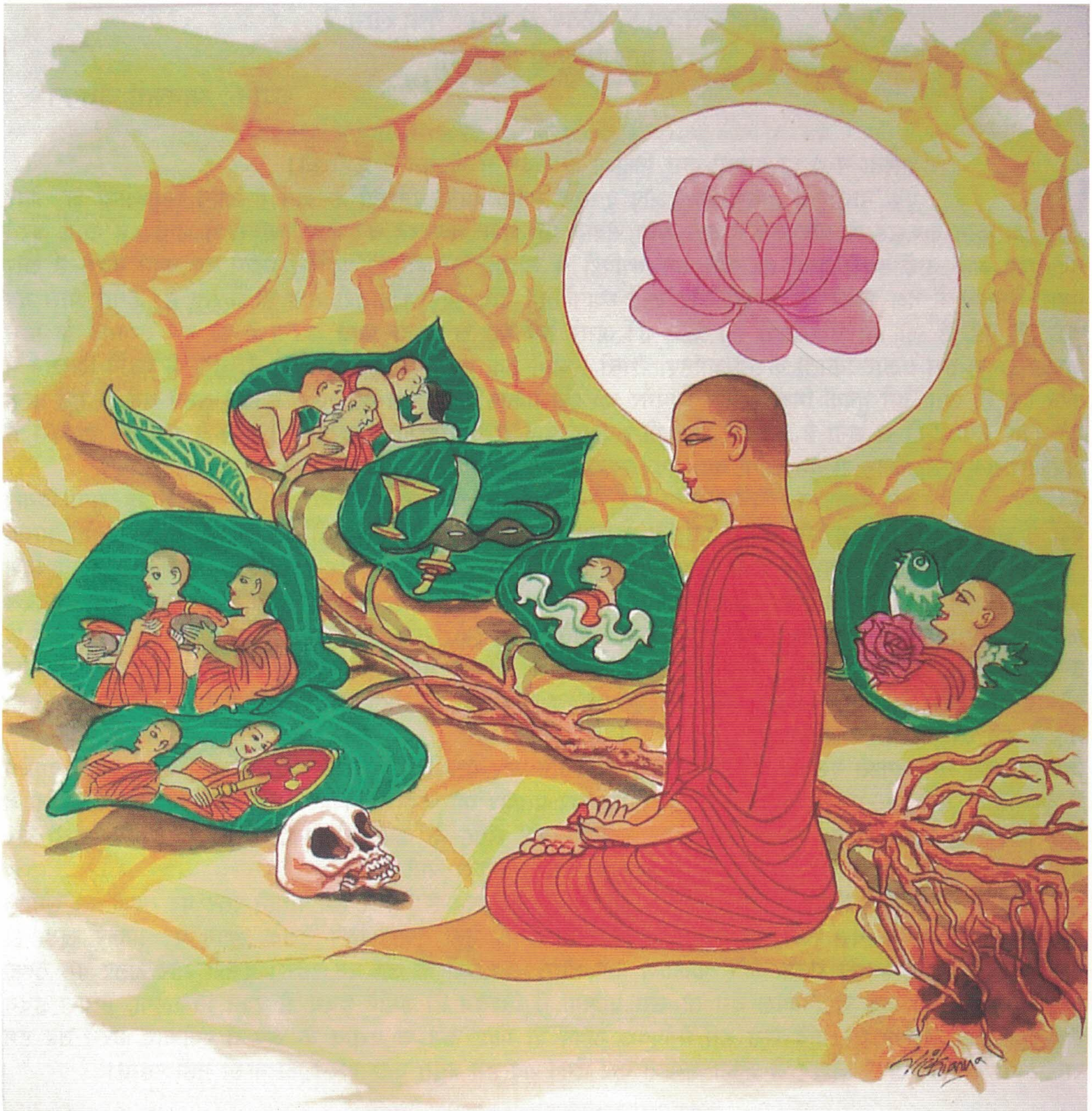
एक बार कुछ श्रमण भिक्षु और कुछ श्रामनेर अपनी धर्मचर्या के क्रम में अपने उपाध्यायों के चीवर रंगने का काम कर रहे थे और उन्हें दूसरी अन्य सेवायें भी अर्पित कर रहे थे। कुछ स्थविरों ने उन्हें यह कार्य करते हुए देखा और उन्हें इनसे ईर्ष्या हो गई। उन स्थविरों ने सोचा, "हम भी तो पढ़ाने-लिखाने का काम करते हैं और पढ़ाने-लिखाने में दक्ष भी हैं पर हमारी ओर कोई ध्यान नहीं देता और न हमारी सेवा ही करता है। हमारे पास वह कुछ भी नहीं है जो इन उपाध्यायों को प्राप्त है। अगर हमें यह सब कुछ प्राप्त करना है तो हमें तथागत के पास जाकर उनसे इस प्रकार विनती करनी चाहिए, "भन्ते ! जहाँ तक पढ़ाई-लिखाई की बात है, हम भी पढ़ाने-लिखाने में अति दक्ष हैं, अतः इन युवक भिक्षुओं और श्रामनेर को इस प्रकार का आदेश दीजिए - 'यद्यपि तुमने धर्म के गूढ़ तत्वों को दूसरे उपाध्यायों से सुना है, पढ़ा है फिर भी उनको ठीक से न सुनाओ, स्वाध्याय भी न करो और इन स्थविरों से संपर्क करो।' ऐसा करने से हम लोगों का आदर-सत्कार बढ़ जाएगा।"

इस प्रकार का विचार-मनन कर वे शाक्य-मुनि के पास गए तथा उन्हें अपना आग्रह सुना दिया। बुद्ध ने सब कुछ सुन लिया और समझ गए कि वे भिक्षु मात्र स्वार्थवश ये सारी बातें कर रहे थे। अतः उन्होंने सोचा, "मेरे धर्म शासन में इस प्रकार के लाभ सत्कार मिला करते हैं पर ये भिक्षुगण लाभ-सत्कार के लोभी हैं और स्वार्थवश मात्र अपना ही लाभ चाह रहे हैं।" अतः शास्ता ने उनसे कहा, "तुम लाभ-सत्कार के लोभी हो अतः ऐसा जानकर केवल तुम्हारे कहने मात्र से या तुम्हारे अच्छा वक्ता होने से मैं तुम्हें 'साधु' नहीं मान सकता। जिसके अर्हत मार्ग से ईर्ष्या-द्वेष आदि समाप्त हो गए हैं वही साधु स्वरूप है। केवल वाक्-चातुर्य के बदौलत या शरीर की सुन्दरता और सौन्दर्य के कारण ईर्ष्या रखने वाला, दंभी और धूर्त व्यक्ति साधु नहीं हो जाता है। जिसकी ये सभी त्रुटियाँ समाप्त हो गई हैं वही साधु कहा जा सकता है।

टिप्पणीः बौद्ध धर्म समस्त बुराइयों को समूल नष्ट करने पर जोर देता है। हमने अक्सर देखा है कि हम अपने बागीचे में बरसात के बाद खर-पतवार साफ करते हैं। अगर खर-पतवार को जड़ से निकाल देते हैं तो वह नष्ट हो जाता है और फिर नहीं निकलता है। दूसरी ओर अगर खुरपी लेकर सतह के ऊपर ही सफाई कर देते हैं तो अगली बार बरसात में, उपयुक्त वातावरण पा, खर-पतवार एक बार फिर निकल आते हैं।

मनुष्य जीवन में तृष्णा भी खर-पतवार की ही तरह है। अगर हम सतही स्तर पर तृष्णा को समाप्त कर देंगे तो रावण के दस सिर की तरह एक सिर कटने पर पुनः दूसरा सिर उसके स्थान पर आकर खड़ा हो जाएगा। इस प्रकार हमारा अंततः कोई कल्याण नहीं होगा, हम ज्यों के त्यों बने रहेंगे। दूसरी ओर अगर हम तृष्णा को अपने हृदय से जड़ से निकाल देंगे तो उस प्रक्रिया में निश्चय ही हमारे हृदय से रक्त निकलेगा, हमारा हृदय लहू-लुहान हो जाएगा पर यदि उसे हम धैर्यपूर्वक अपने ही किए कर्म के प्रसाद के रूप में स्वीकार करेंगे तब हम सदा-सदा के लिए अपने जीवन से तृष्णा समाप्त कर देंगे। तब हमें बहुत कुछ करने को बाकी नहीं रहेगा।





गाथा: यस्स चेतं समुच्छिन्नं, मूलघच्चं समूहतं ।
स वन्तदोसो मेधावी, "साधुरूपो" ति वुच्चति ।।263।।

अर्थ: जिसने इन बुराइयों को अपने अन्दर से समूल उखाड़ कर नष्ट कर दिया है, ऐसा निर्विकार साधक ही 'साधु' कहा जाता है।

आन्तरिक शुद्धि से ही सुन्दरता बढ़ती है
कुछ भिक्षुओं की कथा

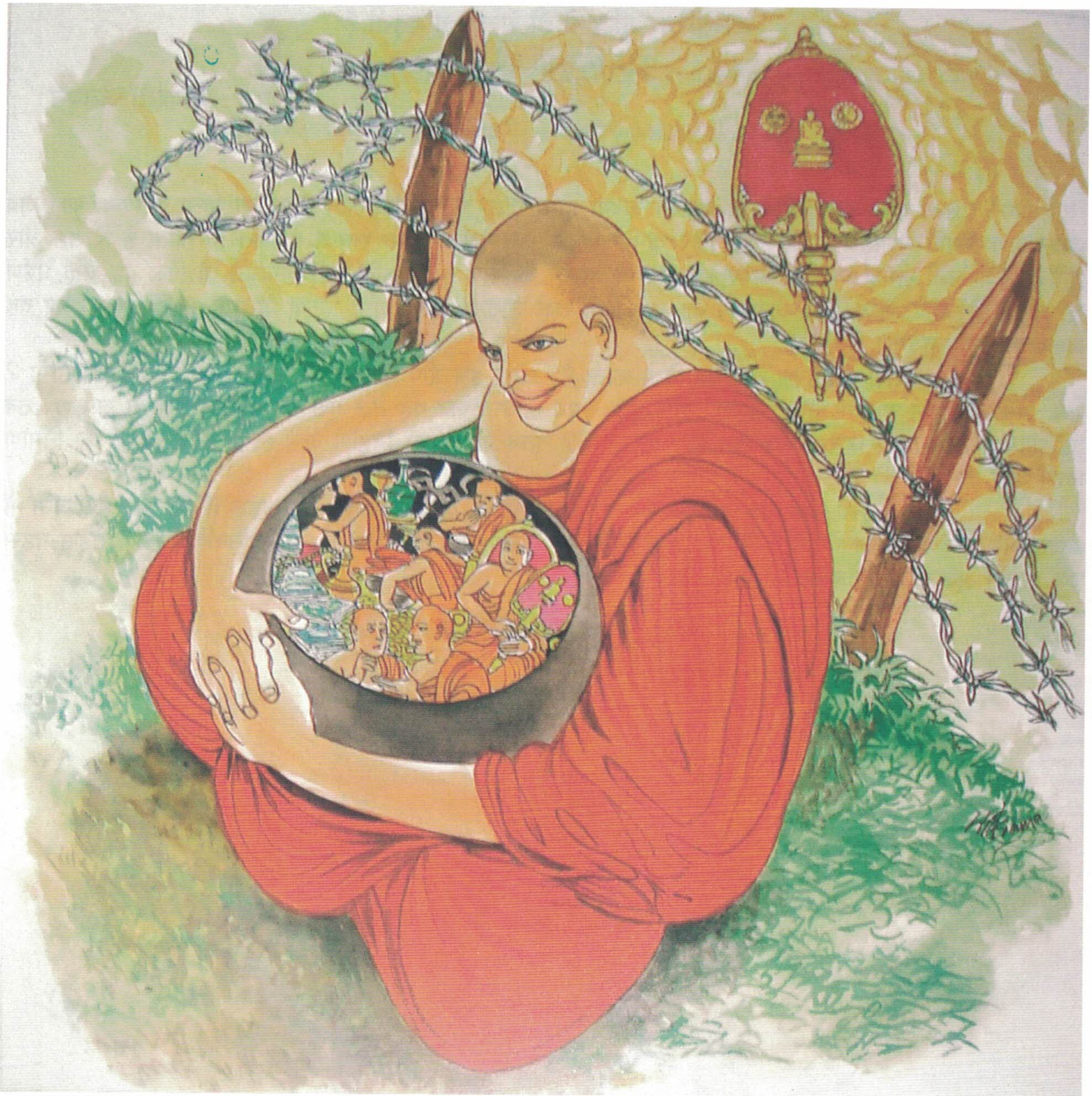
स्थान : श्रावस्ती जेतवन

सिर्फ अपने प्रारब्ध कर्म को खुशी-खुशी बर्दाश्त करना होगा जैसा थेर महामोग्लान ने अंतिम जन्म में किया था। जब जीवन इस स्थिति में पहुँच जाता है तो फिर कर्म का चक्र एक ऐसे चक्र के रूप में परिणत हो जाता है जिसमें और अधिक ऊर्जा नहीं लगाई जाती । अगर हम चक्र के चलने के लिए नूतन ऊर्जा नहीं लगायेंगे तो फिर वह चक्र घर्षण के कारण धीरे-धीरे अंततः रुक जाएगा। वह जल्दी ही रुक जायेगा अथवा थोड़े विलंब के बाद रुक जायेगा। पर वह जरूर ही रुक जायेगा।

दूसरा उदाहरण दीप का दिया जाता है। अगर हम दीप में अलग से तेल न डालेंगे तो क्या होगा ? शनैः शनैः वह तेल समाप्त होता जाएगा। और एक समय आयेगा जब वह तेल पूरा का पूरा समाप्त हो जाएगा। तब वह दीपक किस प्रकार जलेगा जब तेल ही नहीं होगा ? नूतन जीवन का निर्माण कैसे होगा अगर जीवन का निर्माण करने वाले कर्मतत्व को ही समाप्त कर दिया जायेगा ?

बुद्ध इसी बात को बोधिवृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्ति के बाद कहते हैं। कहते हैं कि मैंने हर जन्म में आकर मेरे लिए कारागार बनाने वाले को पहचान लिया है। सारे यंत्र तोड़ दिये हैं, सारी निर्माण सामग्री तहस-नहस कर दी है। अब कारागार बनेगा तो कैसे ?





गाथा: न मुण्डकेन समणो, अब्बतो अलिकं भणं ।
इच्छालोभसमापन्नो, समणो किं भविस्सति ।।264।।

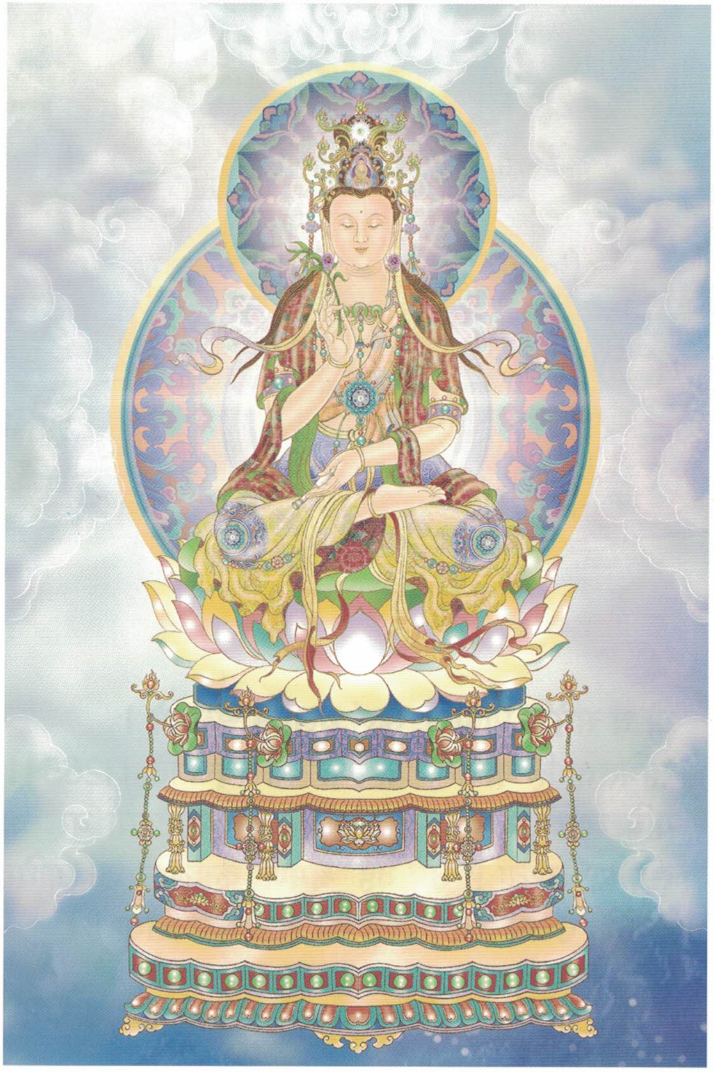
अर्थ: क्या कोई व्यक्ति, जो धर्म का पालन नहीं करता, असत्य बोलता है और लोभ और इच्छाओं से युक्त है मात्र शिर मुँड़ा लेने से 'श्रमण' बन जाएगा ?

सिर मुड़ा लेने से कोई संन्यासी नहीं हो जाता
भिक्खु हत्थक की कथा

स्थान : श्रावस्ती जेतवन

इन दो गाथाओं को बुद्ध ने जेतवन विहार में हत्थक नामक एक भिक्षु को संबोधित कर कहा था।

श्रावस्ती में हत्थक नाम का एक भिक्षु था। वह अक्सर वाद-विवाद में लगा रहता था और शास्त्रार्थ में अधिकांशतः पराजित हो जाता था। लेकिन वह अपनी पराजय को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होता। अतः हर बार शास्त्रीय वाद-विवादों में पराजित हो जाने के बाद वह विद्वानों को पुनः चुनौती देते हुए कहता था, "तुम अमुक स्थान पर मुझसे अमुक समय पर मिलो। वहीं शास्त्रार्थ होगा और तय होगा कि हम दोनों में विद्वान कौन है।" लेकिन अमुक स्थान पर वह निर्धारित समय पर न पहुँचकर उससे पहले ही पहुँच जाता था। उसके प्रतिद्वन्द्वी निर्धारित समय से पूर्व नहीं आते थे। अतः प्रतिवादियों के न आने पर उपस्थित भीड़ से कहता था, "देखो, मेरे प्रतिवादी मुझसे इतना अधिक भयभीत हैं कि उनमें हिम्मत ही नहीं कि वे आकर मुझसे मिलें। जो व्यक्ति मेरे भय से मुझसे मिलने नहीं आ पाया वह मुझसे शास्त्रार्थ क्या करेगा ? उन्होंने अपनी हार मान ली। वे पराजित हो गये" इस प्रकार वह अपने प्रतिद्वन्द्वी की पराजय और अपनी विजय की घोषणा करता हुआ चला जाता था। जब कभी कहीं पर पुनः पराजित हो जाता तो पुनः यही युक्ति लगाता था।





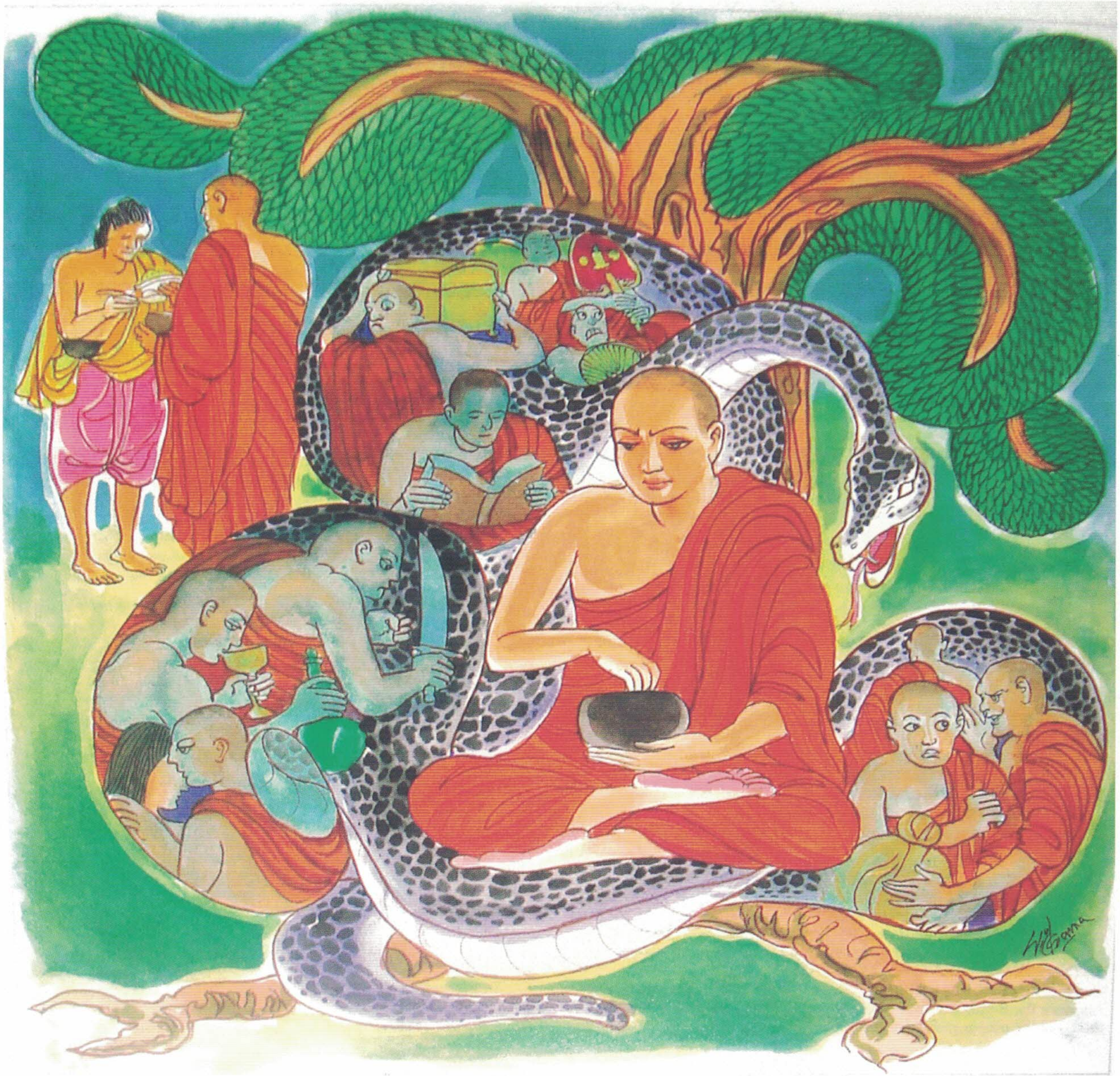
गाथा: यो च समेति पापानि, अणुं थूलानि सब्बसो ।
समितत्ता हि पापानं, "समणो" ति पवुच्चति ।।265।।

अर्थ: यदि व्यक्ति अपने अन्दर विद्यमान छोटे या बड़े पापों को समाप्त करता है तब वह 'श्रमण' कहलाने का अधिकारी है क्योंकि उसने अपने पापों को शांत कर लिया है।

जिसने पापों का किया दमन, वह हुआ श्रमण
भिक्खु हत्थक की कथा

बात शास्ता के कानों तक पहुँची। उन्होंने हत्थक को बुला भेजा। हत्थक के आने पर उन्होंने उससे पूछा, "मैंने तुम्हारे विषय में इस प्रकार की बातें सुनी है। क्या तुम सचमुच ऐसा ही करते हुए घूम रहे हो ? " हत्थक ने स्वीकार किया। उसके स्वीकार कर लेने पर शाक्य-मुनि ने उससे पूछा, "तुम ऐसा क्यों कर रहे हो ? एक मिथ्यावादी का मात्र सिर का मुण्डन कराकर श्रमण कहलाना लज्जाजनक है। जिस व्यक्ति ने अपने पापों को शांत कर दिया है, वस्तुतः वही श्रमण है।" ऐसा कहकर उन्होंने इन दोनों गाथाओं को कहा।





गाथा: न तेन भिक्खु सो होति, यावता भिक्खते परे ।
विस्सं धम्मं समादाय, भिक्खु होति न तावता ।।266।।

अर्थ: दूसरों के घर में जाकर भिक्षा मांगने मात्र से कोई भिक्षु नहीं हो जाता। विषम धर्म का पालन भी करे और भिक्षु भी कहलावे ऐसा नहीं हो सकता।

केवल भिक्षाटन मात्र से कोई भिक्षु नहीं हो जाता
एक ब्राह्मण की कथा

स्थान : श्रावस्ती जेतवन

इन दो गाथाओं को बुद्ध ने जेतवन विहार में एक ब्राह्मण के संदर्भ में कहा था।

वह ब्राह्मण संसार से संन्यास लेकर किसी अन्य सम्प्रदाय में प्रव्रजित हो गया। वह भिक्षाटन करता हुआ एक दिन विचार करने लगा, " बुद्ध अपने शिष्यों को भिक्षाटन करने के कारण 'भिक्षु' कहकर पुकारते हैं। भिक्षाटन तो मैं भी करता हूँ। अतः मैं भी भिक्षु हूँ। मुझे भी 'भिक्षु' कहकर पुकारा जाना चाहिए। इसलिए वह तथागत के पास गया और उनके पास जाकर उनसे कहा, "हे गौतम ! आपके भिक्षुओं की तरह मैं भी भिक्षाटन करता हुआ जीवन यापन करता हूँ। अतः मुझे भी आप 'भिक्षु' कहकर ही संबोधित किया करें।" पर उसकी बात मानने की बजाय बुद्ध ने उससे कहा, "ब्राह्मण ! मैं किसी को भिक्षु मात्र इसलिए नहीं कहता क्योंकि वह भिक्षाटन करता है। अधर्म का पालन करने वाला वस्तुतः भिक्षु कैसे हो सकता है ? इसके विपरीत जो सभी संस्कारों में ज्ञानपूर्वक व्यवहार करता है, उसे ही भिक्षु कहलाने का अधिकार है।

तब शास्ता ने ये दो गाथाएं कहीं।





गाथा: योध पुञ्ञञ्च पापञ्च, बाहेत्वा ब्रह्मचरियवा ।
सङ्खाय लोके चरति, स वे "भिक्खू" ति वुच्चति ।।267।।

अर्थ: जो इस संसार में पाप और पुण्य का त्याग कर ब्रह्मचर्यपूर्वक, ज्ञान के साथ संसार में विचरण करता है, वही वास्तविक भिक्षु कहलाने का अधिकारी है।

सही भिक्षु कौन है ?
एक ब्राह्मण की कथा

टिप्पणी: बौद्ध धर्म में बाह्य कर्म-कांडों को आडंबर की तरह देखा गया है। इसलिए उनका कोई महत्व नहीं है। वास्तव में महत्व की चीज है- आंतरिक रूपान्तरण। और आंतरिक रूपान्तरण के लिए बाह्य आडंबरों की कतई आवश्यकता नहीं।

कहा गया है : "मन न मुँड़ाय, मुँड़ाय जोगी कपड़ा।" अर्थात् संन्यासी ने अपने मन को नहीं रंगा अर्थात् अपने मन को परिशुद्ध, पवित्र नहीं किया। उसके विपरीत सिर्फ बाहर से गेरुआ वस्त्र धारण कर लिया तो फिर वह संन्यासी कैसे कहा जा सकता है ?

संन्यासी किसे कहेंगे ? भिक्षु किसे कहेंगे ? उसे, जिसने जीवन से संन्यास ले लिया है, सांसारिक चीजों से मुँह मोड़ लिया है और इस कारण भोजन के लिए, संसार पर आश्रित रहने के कारण, भिक्षाटन करता है, लेकिन वास्तव में महत्व की जो चीज है वह है जीवन से संन्यास और जीवन से संन्यास की कहानी मन से शुरू होती है। मन भौतिक शरीर की तरह आँखों से दिखने वाली कोई चीज नहीं है। अत: उसका रूपान्तरण पूर्णत: आंतरिक प्रक्रिया है जिसे इस भौतिक जगत के नेत्रों से नहीं देखा जा सकता है।





गाथा: न मोनेन मुनी होति, मूळहरूपो अविद्दसु ।
यो च तुलंव पग्गय्ह, वरमादाय पण्डितो ।।268।।

अर्थ: अज्ञानी व्यक्ति, अज्ञानपूर्वक मार्ग का अनुशरण करते हुए, विस्मित हुआ मौन धारण कर सकता है जो मुनि का गुण है। पर मात्र मौन धारण करने से वह 'मुनि' नहीं हो जाता है। जो व्यक्ति, तुला की तरह, अच्छे और बुरे को तौलकर अशुभ को त्याग देता है और शुभ को ग्रहण कर लेता है, वही 'मुनि' कहलाता है।

मौन रखने मात्र से कोई मुनि नहीं हो जाता
तीर्थिकों की कथा

स्थान : श्रावस्ती जेतवन

यह धर्म देशना बुद्ध ने जेतवन में किसी अन्य सम्प्रदाय के साधुओं के सम्बन्ध में कही थी।

कथा है कि जब भी तीर्थिक किसी गृहस्थ के घर पर भोजन करते तो फिर उस गृहस्थ को भोजनोपरान्त आशीर्वाद देते हुए कहते थे, "तुम्हारे घर में सुख-शांति हो", "आनन्दित होओ, खुश रहो, आयुष्मान होवो" आदि-आदि। इस प्रकार वे इस प्रकार के मंगल वाक्यों से भक्तानुमोदन करते थे। "अमुक स्थान पर कीचड़ है, अमुक स्थान काँटों से भरा हुआ है; अतः ऐसी जगह पर जाना ठीक नहीं है", वे इस प्रकार की सलाह भी दिया करते थे। इस विधि से उन गृहस्थों को अपना धन्यवाद ज्ञापन करके और फिर उनको अपनी शुभ कामना देकर ही वे उनसे विदा लेते।

इसके विपरीत बौद्ध विहार के भिक्षुगण मौन रहकर ही भोजन करते और भोजनोपरान्त धर्म प्रवचन किए बिना ही, बिना कुछ बोले ही चल देते थे क्योंकि प्रथम बोधिकाल में बुद्ध ने भक्तानुमोदन की अनुमति नहीं दी थी। उस समय तक भक्तानुमोदन की परंपरा प्रारम्भ नहीं हुई थी। भिक्षुओं का यह व्यवहार गृहस्थों को अच्छा नहीं लगता था। उल्टे उनका इस प्रकार का रूखा व्यवहार उन्हें बुरा लगता था और वे कहने लगे, "हम लोग तीर्थिकों से तो भक्तानुमोदन एवं शुभकामनाएं प्राप्त करते हैं पर आदरणीय भिक्षुगण मौन धारण किए हुए प्रस्थान कर जाते हैं। अच्छा हो, हम इन तीर्थिकों को ही निमंत्रित करके उनसे मंगलवाक्य सुना करें क्योंकि इससे हमारा कुछ तो लाभ होगा। भिक्षुओं को जब इस बात का पता चला तो इस बारे में उन्होंने शास्ता को बताया। शास्ता ने उन्हें भक्तानुमोदन की अनुमति देते हुए कहा, "भिक्षुओं ! आज से तुम लोग भी भोजन दान ग्रहण करने के बाद सुखपूर्वक भक्तानुमोदन करो। गृहस्थों के साथ बैठो, धर्मोपदेश दो, धर्म कथा सुनाओ।" इसके बाद बुद्ध के आदेशानुसार भोजन दान के बाद भक्तानुमोदन की परंपरा प्रारंभ हो गई। भक्तानुमोदन सुनकर गृहस्थ जन भी अति प्रसन्न होने लगे और अधिक उत्साह पूर्वक अधिक से अधिक भिक्षुओं को निमंत्रित करने लगे और आदर-सत्कार में भी वृद्धि हो गई। उन भिक्षुओं का पहले की तुलना में अधिक आदर-सत्कार होने लगा। इससे तीर्थिक जन नाराज हो गए और उन्होंने इसके प्रत्युत्तर में मौन रहने का निर्णय ले लिया। अर्थात् अब जब कभी भी ये भिक्षु भक्तानुमोदन करेंगे, उस समय हम लोग मौन बैठा करेंगे। उन्होंने यह भी कहा, "हम मुनि हैं अतः हम मौन रहा करेंगे, बुद्ध के शिष्य तो सिर्फ लम्बे-लम्बे उपदेश दिया करते हैं।" जब बुद्ध ने यह टिप्पणी सुनी तो कहा, "भिक्षुओं ! मैं चुप रहने मात्र से किसी व्यक्ति को 'मुनि' नहीं मानता। क्योंकि लोग विभिन्न कारणों से मौन रह सकते हैं। कुछ लोगों को मौन इसलिए रखना पड़ता है क्योंकि वे अज्ञानी हैं, उन्हें कुछ नहीं आता। अतः वे कुछ बोलने की स्थिति में नहीं होते। अन्य ऐसे हैं जिनमें आत्म विश्वास की कमी है। अतः वे बोल नहीं सकते और इस कारण चुप रहना ही श्रेयस्कर समझते हैं। तीसरी श्रेणी में वे लोग आते हैं जो किसी विषय-वस्तु को जानने के बावजूद उसे दूसरों के साथ बाँटना नहीं चाहते क्योंकि उन्हें लगता है कि दूसरों को जानकारी दे देने से उनका वर्चस्व खत्म हो जाएगा और इस प्रकार उनका महत्व कम हो जाएगा। इसीलिए मैं कहता हूँ कि कोई व्यक्ति मुनि मात्र इसलिए नहीं कहलायेगा क्योंकि वह मौन धारण करता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति अपने जीवन को पापमुक्त करता है वहीं 'मुनि' कहलाता है।





गाथा: पापानि परिवज्जेति, स मुनी तेन सो मुनि ।
यो मुनाति उभो लोके, "मुनि" तेन पवुच्चति ।।269।।

अर्थ: वह शुभ और अशुभ की जाँच कर, वह अशुभ (पापों) को त्याग देता है। इस कारण वह मुनि है और मुनि कहलाता भी है। वह अपने अंर्तदृष्टि से दोनों लोकों (आन्तरिक एवं वाह्य) का चिंतन मनन करने में सक्षम है।

सच्चा ज्ञान : मुनि की पहचान
तीर्थिकों की कथा

टिप्पणी: मौन रहना मुनि का एक गुण है। मुनि के अन्दर और भी गुण होने चाहिए और मौन रहना उनमें से एक गुण है। यह मौन रहना, हो सकता है, उसके अज्ञान के कारण हो। जैसे रूई तौलने वाला एक तरफ रूई रखता है और दूसरी ओर बाट और अगर रूई अधिक हो तो उसमें से निकाल देता है और अगर कम हो तो थोड़ा और डाल देता है; उसी प्रकार जीवन में अधिक रूई निकालने के समान पाप को निकाल देना चाहिए तथा कम होने पर रूई मिलाने के समान कुशल एवं पुण्य का काम करना चाहिए। व्यक्ति इस अभ्यास को निरंतर करता हुआ शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति एवं विमुक्तिज्ञान दर्शन नामक उत्तम साधन को अपनाकर पाप कर्म (अकुशल कर्म) को त्याग देता है।





गाथा: न तेन अरियो होति, येन पाणानि हिंसति ।
अहिंसा सब्बपाणानं, "अरियो" ति पवुच्चति ।।270।।

अर्थ: जो प्राणियों के प्राण हरता है उसे आर्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि समस्त प्राणियों के प्रति अहिंसा की प्रवृत्ति रखने वाला ही इस लोक में 'आर्य' कहलाता है।

नाम में क्या रखा है ?
मछुआरे की कथा

स्थान : श्रावस्ती जेतवन

यह गाथा बुद्ध ने जेतवन में एक मछुआरे, जिसका नाम आर्य था, को संबोधित कर कही थी। एक दिन उन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टि से देखा कि मछुआरा स्रोतापन्न स्थिति प्राप्त करने के लिए परिपक्व था। अतः भिक्षाटन से लौटते समय, बुद्ध अपने भिक्षुओं के साथ जब उसके पास से गुजरे तो वहाँ रुक गए। जब मछुआरे ने बुद्ध को देखा तो उसने मछली मारने की बंशी (मछली मारने का काँटा) को फेंक दिया और उनके पास आकर प्रणाम करके खड़ा हो गया। तब बुद्ध ने एक-एक कर अपने सभी भिक्षुओं का नाम उस मछुआरे की उपस्थिति में पूछा। सारिपुत्त मोग्लान सभी ने एक एक कर अपना नाम बताया। मतस्यघातक ने सोचा "संभव है, मेरा क्रम आने पर मेरा नाम भी पूछें।" बुद्ध ने उसके मन की स्थिति को जान लिया। अतः क्रम आने पर उसका नाम भी पूछ दिया, "क्या नाम है तुम्हारा उपासक ?" मछुआरा प्रसन्न हुआ और अपना नाम बताते हुए बोला, "भन्ते ! मेरा नाम 'आर्य' है।"

शास्ता ने इसे सुना और तब उससे प्रश्न किया, "तुम तो मछलियों को मारते हो, उनकी हत्या करते हो, उनके प्राण लेते हो; तुम्हारा नाम आर्य कैसे हो सकता है ? एक 'प्राणघातक' का नाम आर्य कैसे हो सकता है ? आर्य तो वे होते हैं जो प्राणियों के प्राण नहीं लेते, जीव-हत्या नहीं करते और सबों के साथ मैत्री-भाव रखते हैं।"

यह कहते हुए उन्होंने यह गाथा कही। देशना के पश्चात् मत्स्यघातक स्रोतापन्नफल में स्थित हो गया।





गाथा: न सीलब्बतमत्तेन, बाहुसच्चेन वा पन ।
अथ वा समाधिलाभेन, विवित्तसयनेन वा ।।271।।

अर्थ: केवल शील और व्रत धारण करने मात्र से, सत्यभाषण से, समाधिसाधना या एकान्तवास करने से......

सभी आस्त्रवों को समाप्त करना आवश्यक है
कुछ भिक्षुओं की कथा

स्थान : श्रावस्ती जेतवन

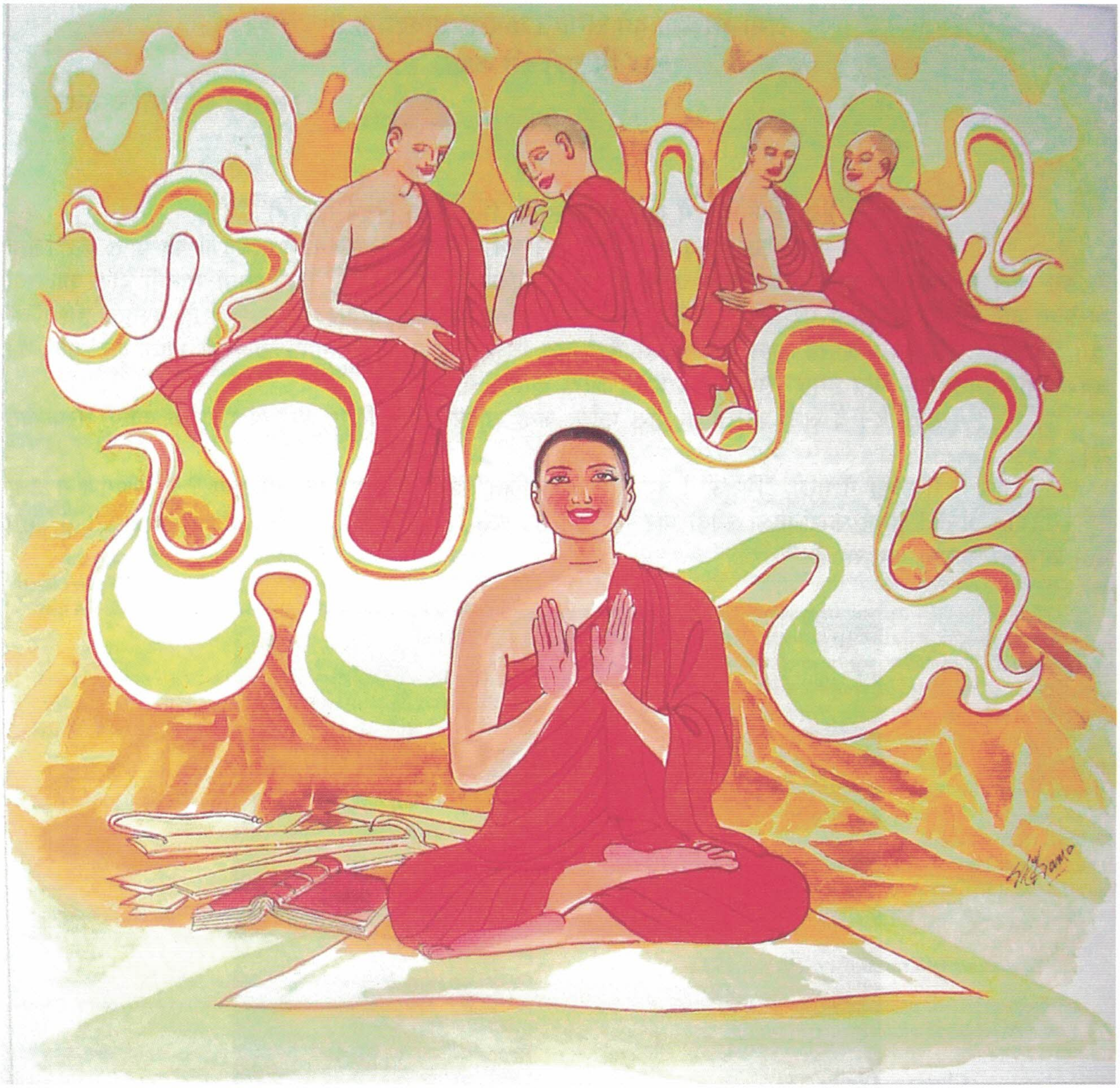
यह देशना बुद्ध ने जेतवन में कुछ शील सम्पन्न भिक्षुओं के संदर्भ में कही थी।

कथा के अनुसार एक समय कुछ भिक्षुओं ने मन में सोचा, "हमने सभी सदगुणों को प्राप्त कर लिया है, हम शील में स्थित हैं; हम पवित्र जीवन जीते हैं; हम दूर एकान्तवास करते हैं; हमने ध्यान साधना द्वारा शक्तियां भी प्राप्त कर ली हैं, सभी व्रत पूरे कर चुके हैं। हमारे लिए अर्हत्व प्राप्त करना अब कठिन नहीं है; वस्तुतः हम जिस दिन भी चाहें, उसी दिन अर्हत्व प्राप्त कर सकते हैं।" उन भिक्षुओं में कुछ अनागामी फल भी प्राप्त कर चुके थे। उनका भी सोचना था, "अब हमारे लिए अर्हत्व प्राप्त करना कठिन नहीं है।"

एक दिन वे सभी शास्ता के पास पहुँचे, उन्हें सादर प्रणाम किया और आदरपूर्वक एक तरफ बैठ गए।

तब बुद्ध ने पूछा, "भिक्षुओं ! क्या तुम्हारे प्रव्रजित होने का उद्देश्य पूरा हो गया ? " भिक्षुगण ने उन्हें उत्तर दिया, "भन्ते ! हमने फलाँ-फलाँ सीढ़ी पार कर ली है। अतः हम जब चाहें, अर्हत्व प्राप्त कर सकते हैं। हम यही सोचकर साधना कर रहे हैं।"





गाथा: फुसामि नेक्खम्मसुखं, अपुथुज्जनसेवितं ।
भिक्खु विस्सासमापादि, अप्पत्तो आसवक्खयं ।।272।।

अर्थ: ......'मैं पृथक जनों द्वारा अप्राप्त अनागामी सुख का अनुभव कर सकता हूँ'- ऐसी धारणा नहीं बनानी चाहिए जब तक आस्रवों का पूर्णत: क्षय न हो जाये।

दृढ़ प्रतिज्ञ ही निर्वाण पायेगा
कुछ भिक्षुओं की कथा

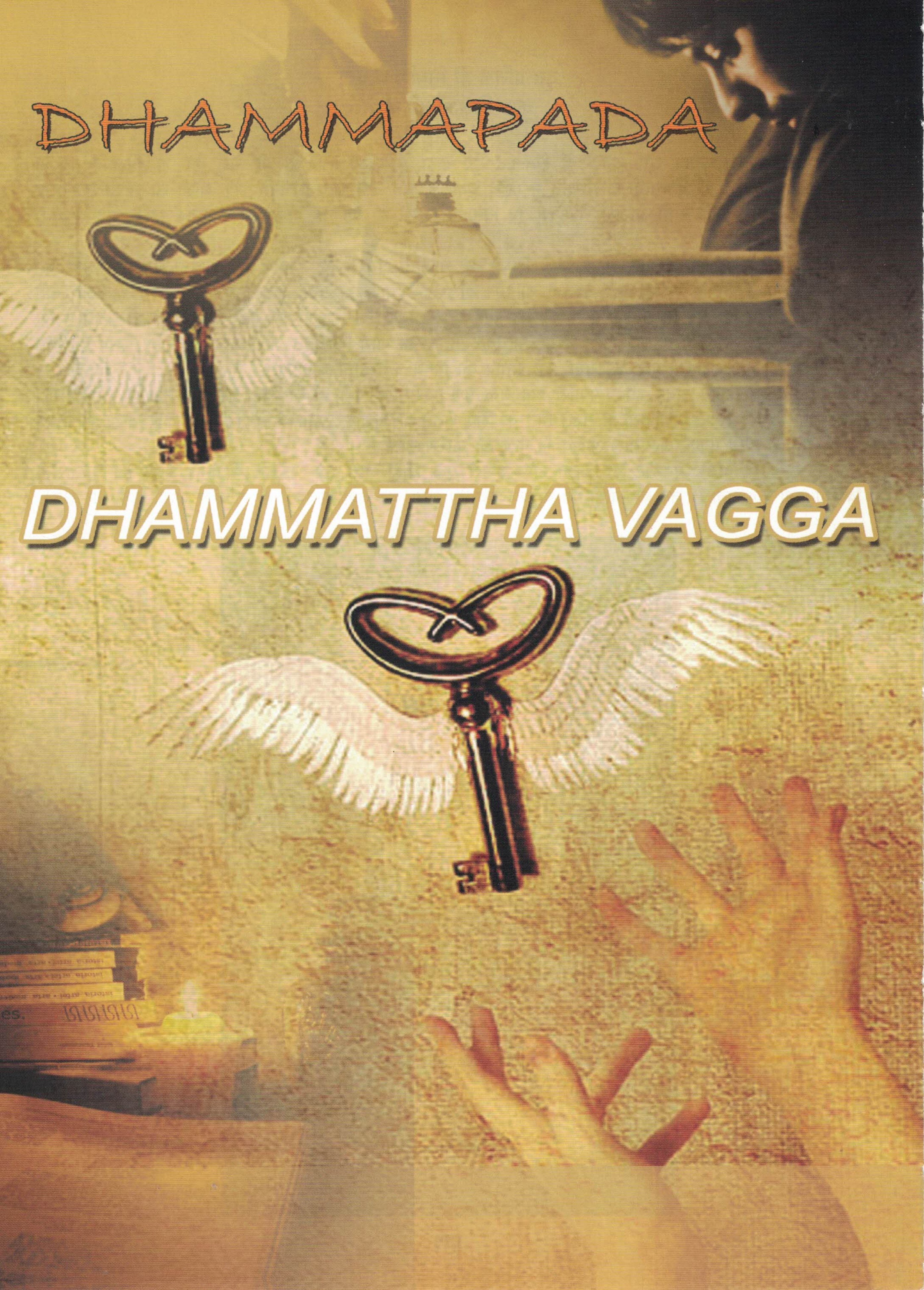
जब बुद्ध ने उनका जवाब सुना तब उन्हें समझाते हुए कहा, "भिक्षुओं ! किसी भी भिक्षु को जो शीलादि व्रत से परिशुद्ध हो चुका है या अनागामी की स्थिति में पहुँच चुका है, यह नहीं सोचना चाहिए कि थोड़ा-सा सांसारिक दु:ख जीतना बाकी है क्योंकि सभी आस्रवों से मुक्त हुए बिना 'मैं सुखी हूँ' यह नहीं कहा जा सकता। इसके बाद तथागत ने ये दो गाथाएं कहीं।

टिप्पणी: इन दो गाथाओं के द्वारा बुद्ध अपने शिष्यों को नसीहत देते हैं कि निर्वाण की साधना में रत भिक्षुओं को अपनी साधना में कदापि ढिलाई नहीं बरतनी चाहिए। थोड़ा कुछ प्राप्त हो गया, कुछ दूर तक पहुँच कर संतोष नहीं कर लेना चाहिए कि अब तो मंजिल पास है। जब चाहें पहुँच सकते हैं। भिक्षुओं को यह भी हिदायत दी जाती है कि वे कर्म कांडों से संतुष्ट न हो जायें और न यह सोचकर संतुष्ट हो जायें कि बहुत सारा ज्ञान प्राप्त कर लिया है। 'मन को जीतने की कुछ सीढ़ियाँ पार कर गया' यह संतोष का विषय नहीं होना चाहिए।

अपने अंदर की कमजोरी जब तक पूर्णत: समाप्त नहीं हो जाएगी, अर्हत्व की प्राप्ति नहीं होगी। अत: अपने अन्दर स्थित अशुद्धियों से मुक्त होने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए। जिस प्रकार थोड़ा भी विष्टा दुर्गन्ध देता है उसी प्रकार अल्पमात्र आश्रव भी दुख का कारण होता है।

माउंट एवरेस्ट पर चढ़ने और उससे एक सीढ़ी नीचे तक पहुँचने में बहुत अंतर है। पर्वतारोही विजयी तभी कहलाता है जब वह चोटी पर पहुँच जाता है। अत: जब तक मंजिल तक न पहुँच जायें, संतोष न करें।



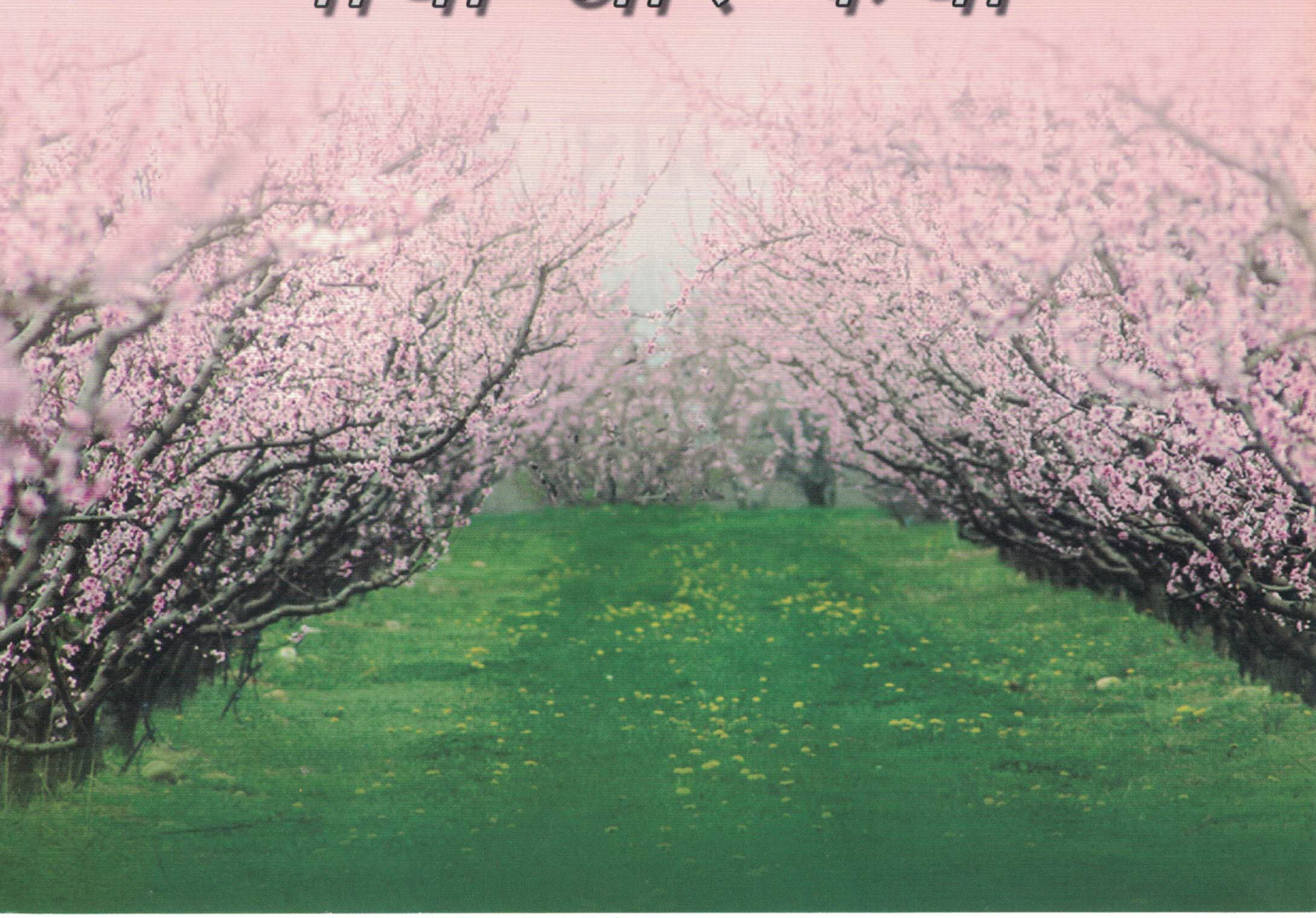

DHAMMAPADA
DHAMMATTHA VAGGA

मुक्ति का मार्ग

धम्मपद

मार्ग वर्ग

गाथा और कथा



मुक्ति का मार्ग

धम्मपद

मार्ग वर्ग

गाथा और कथा

संस्कारक
हृषीकेश शरण

विषय सूची

मार्ग वर्ग



गाथा: मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो, सच्चानं चतुरो पदा।
विरागो सट्ठो धम्मानं, द्विपदानञ्च चक्खुमा।।273।।

अर्थ: आध्यात्मिक चितन के मार्ग में अष्टांगिक मार्ग ही श्रेष्ठ है। सत्यों में चार आर्य-सत्य श्रेष्ठ हैं। धर्मों में वैराग्य सर्वश्रेष्ठ है और देवताओं और मनुष्यों में ज्ञानवान तथागत (चक्षुष्मान) ही श्रेष्ठ हैं।

श्रेष्ठ क्या है ?
पाँच सौ भिक्षुओं की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

जेतवन का बौद्ध विहार, सायं काल की बेला थी । सूर्य देवता अस्त हो चुके थे। रात अपनी काली चादर ओढ़कर उतरने लगी थी और उधर तारे भी आकाश में टिमटिमाने लगे थे। ठंढी-ठंढी हवा मंद-मंद बह रही थी। विहार में पूर्णतः नीरसता थी। शास्ता विहार में भिक्षुओं के साथ विराजमान थे। कुछ भिक्षु थोड़े समय पहले चारिका से लौटे थे तथा आसनशाला में बैठकर विश्राम कर रहे थे। साथ ही साथ आपस में कुछ इधर-उधर, कुछ घर की चर्चा भी कर रहे थे।





गाथा: एसो व मग्गो नत्थञ्ञो, दस्सनस्स विसुद्धिया।
एतम्हि तुम्हे पटिपज्जथ, मारस्सेतं पमोहनं।।274।।

अर्थ: दर्शन की विशुद्धि (ज्ञान की प्राप्ति) के लिए यही एक मात्र मार्ग है, अन्य कोई दूसरा नहीं। तुम इसी पर चलना। यह मार को हक्का बक्का करने वाला (मुग्ध कर निस्तेज करने वाला), किंकर्त्तव्यविमूढ़ बनाने वाला है।

मार्ग एक ही है
पाँच सौ भिक्षुओं की कथा

उनकी बातचीत और साधारण लोगों की बातचीत में कोई अन्तर नहीं था। सांसारिक लोगों की तरह वे भी गप्पें मार रहे थे। वरन् उनकी चर्चा का विषय है - सांसारिक चीजें, सारी की सारी चर्चा अन्तर्यात्रा से सम्बन्धित न होकर अर्हियात्रा से ही सम्बन्धित थी। निजी अनुभूति, अपनी-अपनी साधना उनकी चर्चा का विषय नहीं था, बल्कि विषय था- "अमुक गाँव की सड़क अच्छी है, अमुक गाँव की सड़क अच्छी नहीं है। वहाँ का रास्ता कंकड़ युक्त है, पथरीला है, दूसरी जगह के रास्ते पर कंकड़ भी नहीं है और मार्ग पथरीला भी नहीं है।"





गाथा: एतम्हि तुम्हे पटिपन्ना, दुक्खस्सन्तं करिस्सथ।
अक्खातो वो मया मग्गो, अञ्ञाय सल्लसन्तनं।।275।।

अर्थ: यदि तुम इस पथ पर अग्रसर होवोगे तो, निश्चय ही, अपने सांसारिक दु:खों का नाश कर पावोगे। मेरे इस उपदेश के अनुसार चलकर तुम अपने भवरोग (भवकण्टक) का नाश कर सकोगे।

मार्ग पर चल सांसारिक दु:खों से मुक्त हों
पाँच सौ भिक्षुओं की कथा

वहाँ की जमीन ऊबड़-खाबड़ है तो वहाँ की जमीन समतल और उपजाऊ। उस रास्ते से जाने पर काँटे मिलेंगे पर फलाँ तरफ से जाने से रास्ते में काँटे नहीं मिलेंगे। उस तरफ छायादार वृक्ष हैं तो उस मार्ग पर कोई वृक्ष है ही नहीं।"





गाथा: तुम्हेहि किच्चमातप्पं, अक्खातारो तथागता।
पटिपत्रा पमोक्खन्ति, झायिनो मारबन्धना।।276।।

अर्थ: तुम्हें ही इसके लिए कठिन तप (उद्योग, परिश्रम) करना है। तथागत तो केवल मार्ग बता सकते हैं। यह निश्चित समझ लो कि जो इस मार्ग पर अग्रसर होवेंगे वे अवश्य ही भवदु:ख से मुक्त हो जायेंगे।

कठिन तप स्वयं ही करना होगा
पाँच सौ भिक्षुओं की कथा

शास्ता ने अपनी अन्तर्दृष्टि से देख लिया कि इन भिक्षुओं में अर्हत्व प्राप्ति की प्रबल संभावना है। अतः वे उन भिक्षुओं के निकट पहुँचे और आसन पर विराजमान होते हुए बोले, "तुम लोग अभी क्या चर्चा कर रहे थे ? " भिक्षुओं ने अपने मार्ग से सम्बन्धी विषय पर हुई चर्चा की जानकारी दी। तब शाक्य मुनि ने उन्हें बताया, "भिक्षुओं ! तुम तो वाह्य मार्ग की चर्चा कर रह हो। भिक्षुओं की चर्चा का विषय तो होना चाहिए - आध्यात्मिक आर्य मार्ग। ऐसा करने से मनुष्य अपने दुःखों से मुक्त हो सकता है।"





गाथा: "सब्बे सङ्खारा अनिच्चा" ति, यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दती दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया।।277।।

अर्थः 'सभी संस्कार अनित्य है' ऐसा जब साधक प्रज्ञा द्वारा साक्षात करता है तब उसे दुःख से विरक्ति होती है। यही चित्तविशुद्धि का वास्तविक मार्ग है।

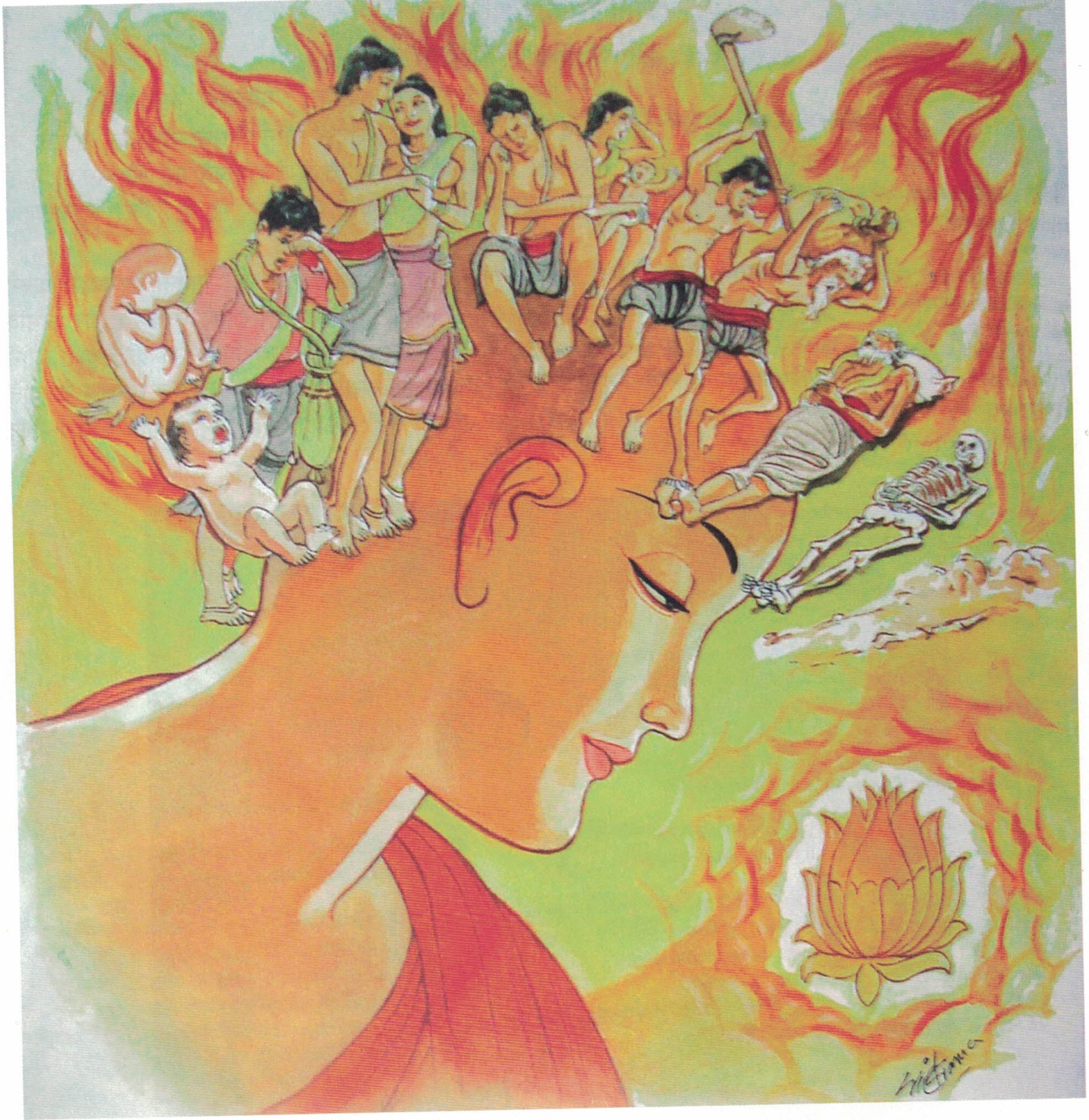
सभी संस्कार अनित्य है
अनित्य-लक्षण की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

शाक्य मुनि जेतवन में थे। उसी समय कुछ भिक्षु आये। वे उनसे ध्यान-साधना सीखकर साधना के उद्देश्य से वन को प्रस्थान कर गए। वे एकान्त में साधना करते रहे। पर बहुत प्रयत्न करने पर भी उनकी कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। उन्होंने सोचा कि शायद ध्यान-साधना सीखने में कोई कमी रह गई है। फिर से चलकर सीख लेते हैं।

शाक्य मुनि ने अपनी दिव्यदृष्टि से जान लिया था कि ये भिक्षु अनित्य की भावना पर ध्यान करने के पथ पर अग्रसर हैं। अतः उन्होंने भिक्षुओं को समझाया, "काम भाव आदि में सभी संस्कार उत्पन्न होकर अभाव को प्राप्त होने के कारण अनित्य ही हैं।" उन्होंने आगे स्पष्ट किया, " आदमी जब ऐसा विपश्यना प्रज्ञा द्वारा जान जाता है तब वह इस स्कन्धपरिहरण दुःख से निर्वेद वैराग्य पैदा करता है। अर्थात् वैराग्य होने से दुःख क्षेत्र के प्रति भोक्ताभाव टूट जाता है, दुःख के साक्षात्कार से सत्य का ज्ञान करता है।" ऐसा है यह विमुक्ति का मार्ग ! ऐसा समझाते हुए उन्होंने यह गाथा कही।





गाथा: "सब्बे सङ्खारा दुक्खा" ति, यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया।।278।।

अर्थ: 'सभी संस्कार दुःखमय हैं' - जब साधक यह बात प्रज्ञा द्वारा जान लेता है तब उसको दुःख के प्रति वैराग्य (घृणा) पैदा हो जाता है। यही चित्तविशुद्धि का सच्चा मार्ग है।

सारे संसार दु:खमय हैं
दु:ख लक्षण की कथा

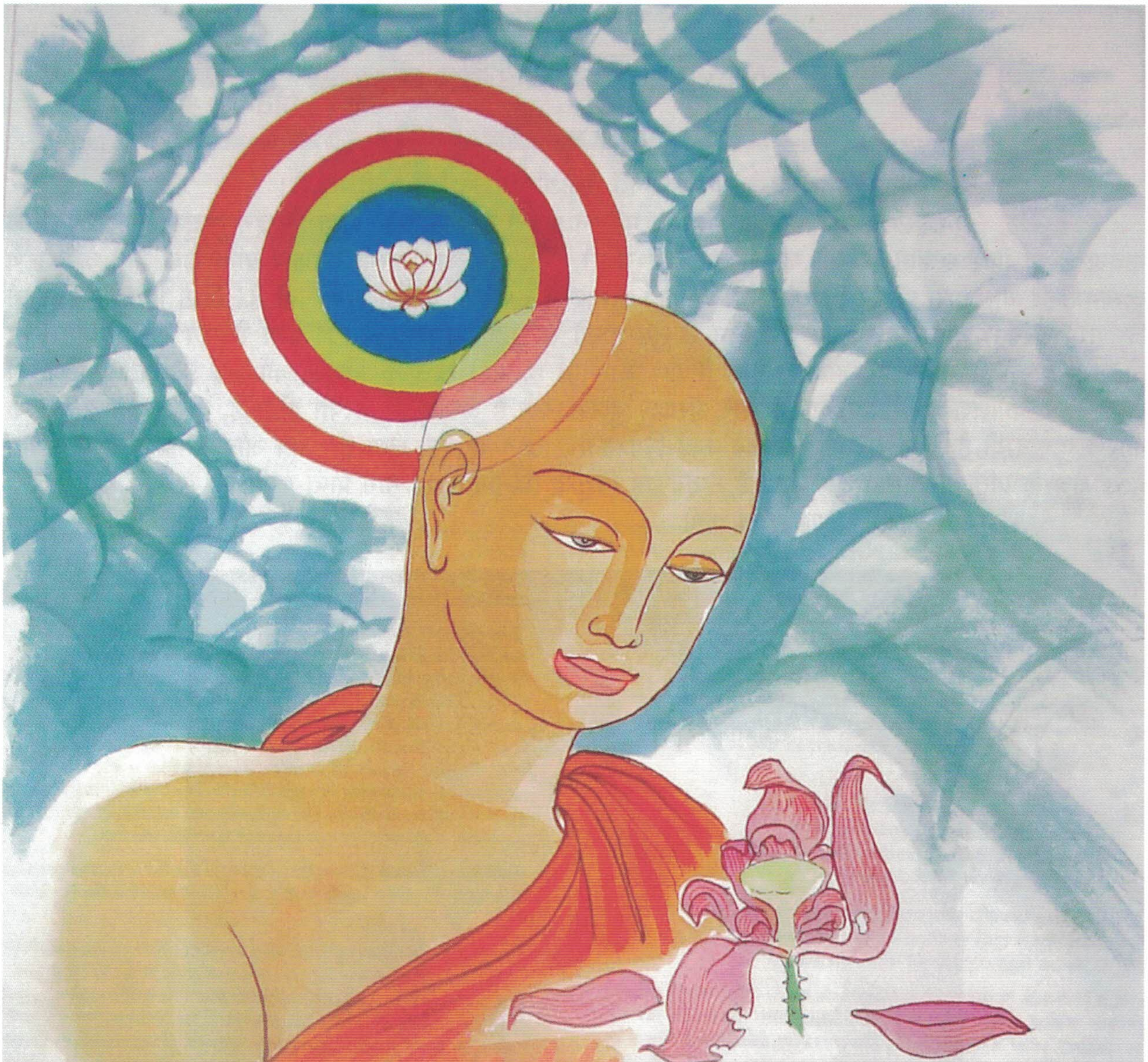
स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

यह दूसरी गाथा भी जेतवन में उन्हीं भिक्षुओं के संदर्भ में कही गई है।

कुछ समय बाद एक दिन शाक्य मुनि ने अपनी अन्तर्दृष्टि से देखा कि इन भिक्षुओं में दु:ख लक्षण भावना है तो फिर उन्होंने भिक्षुओं को बुलाया और उनसे बोले, "भिक्षुओं ! सभी संस्कार प्रतिपीड़क होने के कारण दु:खमय हैं। यह सारा संसार ही दु:खमय है। यहाँ संसार में सुख की कोई किरण नहीं है। जिस दिन समझ लोगे कि सभी संस्कार दु:ख-स्वरूप हैं। उस दिन से तुम दु:खों से छुटकारा पाने लगोगे। प्रज्ञा से जब यह पहचान लोगे तो सभी दु:खों से मुक्ति हो जायेगी। यही निर्वाण का मार्ग है, यही चित्त के विशुद्धि की राह है। अत: मनुष्य को समझने की कोशिश करनी चाहिए कि सारे संस्कार दु:खदायक हैं अर्थात् जो उत्पन्न होता है, वह नाशवान् होने के कारण दु:खदायी है। इस सच्चाई को जब कोई विपश्यना ज्ञान से देख लेता है, जान और समझ लेता है अर्थात् दु:ख क्षेत्र के प्रति भोक्ताभाव टूट जाता है - तब वह विशुद्धि (विमुक्ति) का मार्ग प्राप्त कर लेता है।"

तब शास्ता ने यह गाथा कही।





गाथा: "सब्बे धम्मा अनत्ता" ति, यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया।।279।।

अर्थः सभी धर्म (पदार्थ, पंचस्कन्ध) अनात्म हैं- जब मनुष्य इस बात को प्रज्ञा से देखता है तब उसे संसार से वैराग्य (निर्वेद) पैदा होता है और यही विशुद्धि का सच्चा मार्ग है।

सभी धर्म अनात्म हैं
अनात्म लक्षण की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

यह धर्मदेशना भी शास्ता ने उन्हीं भिक्षुओं के संदर्भ में जेतवन में कही थी।

एक दिन शाक्य-मुनि ने उन्हें सम्बोधित करते हुए समझाया, "भिक्षुओं ! सभी धर्म (पंचस्कन्ध) अनात्म हैं। आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। न तो तुममें और न ही इन चीजों में कोई आत्मा है। आत्मा से भाव होता है किसी चिरस्थायी, शाश्वत, स्थिर चीज का। पर इस जगत में चिरस्थायी, शाश्वत, स्थिर नाम की तो कोई चीज है ही नहीं। सभी कुछ अशाश्वत है, अस्थिर है। न तो कोई पदार्थ निरंतर रहने वाला है और न तुम निरंतर रहने वाले हो। सभी कुछ स्कन्ध के अलावा और कुछ नहीं है। मनुष्य कुछ और नहीं है - सभी स्कन्धों को मिलाकर, जोड़-जोड़कर बनाया गया एक पुतला है। इस धर्म को जानो, इस सच्चाई को पहचानो। इस धर्म के स्वरूप को जान जाओगे तो समझ जाओगे कि आत्मा-परायण या ईश्वर परायण से विशुद्धि और फिर विमुक्ति प्राप्त नहीं होती। जब यह समझ लोगे तो निर्वेद को प्राप्त कर लोगे। यही विशुद्धि का मार्ग है। अर्थात् साधक को समझने की चेष्टा करनी चाहिए कि 'सभी धर्म अनात्म हैं यानि लौकिक या लोकोत्तर, जो कुछ भी है, वह सब अनात्म है, 'मैं', 'मेरा' नहीं है। इस सच्चाई को जब कोई विपश्यना प्रज्ञा द्वारा जान लेता है, देख लेता है तब उसको सभी दुःखों से निर्वेद प्राप्त हो जाता है अर्थात् दुःख क्षेत्र के प्रति भोक्ताभाव टूट जाता है। ऐसा अद्भुत है यह विशुद्धि (विमुक्ति) का मार्ग ! "





गाथा: उट्ठानकालम्हि अनुट्ठहानो, युवा बली आलसियं उपेतो।
संसन्नसङ्कप्पमनो कुसीतो, पञ्ञाय मग्गं अलसो न विन्दति।।280।।

अर्थ: उठ खड़ा होने के समय जो उठ खड़ा नहीं होता, युवा और बलशाली होने पर भी आलस्य करता है, जिसने उच्च आकांक्षाओं को छोड़ दिया है और उसकी जगह जिसका मन व्यर्थ के संकल्पों से भरा है ऐसा दीघसूत्री तथा आलसी व्यक्ति प्रज्ञा के मार्ग को प्राप्त नहीं कर सकता।

आलसी प्रज्ञा के मार्ग को प्राप्त नहीं कर सकता
योगाभ्यासी तिस्स थेर की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

जेतवन में एक समय बहुत सारे कुलपुत्र शास्ता से प्रव्रजित हुए। उनसे प्रव्रज्या ग्रहण कर, ध्यान-साधना की विधि सीख सभी जंगल की ओर तपस्या करने हेतु प्रस्थान कर गए। उनमें से सिर्फ तिस्स नाम का एक भिक्षु विहार में रह गया।

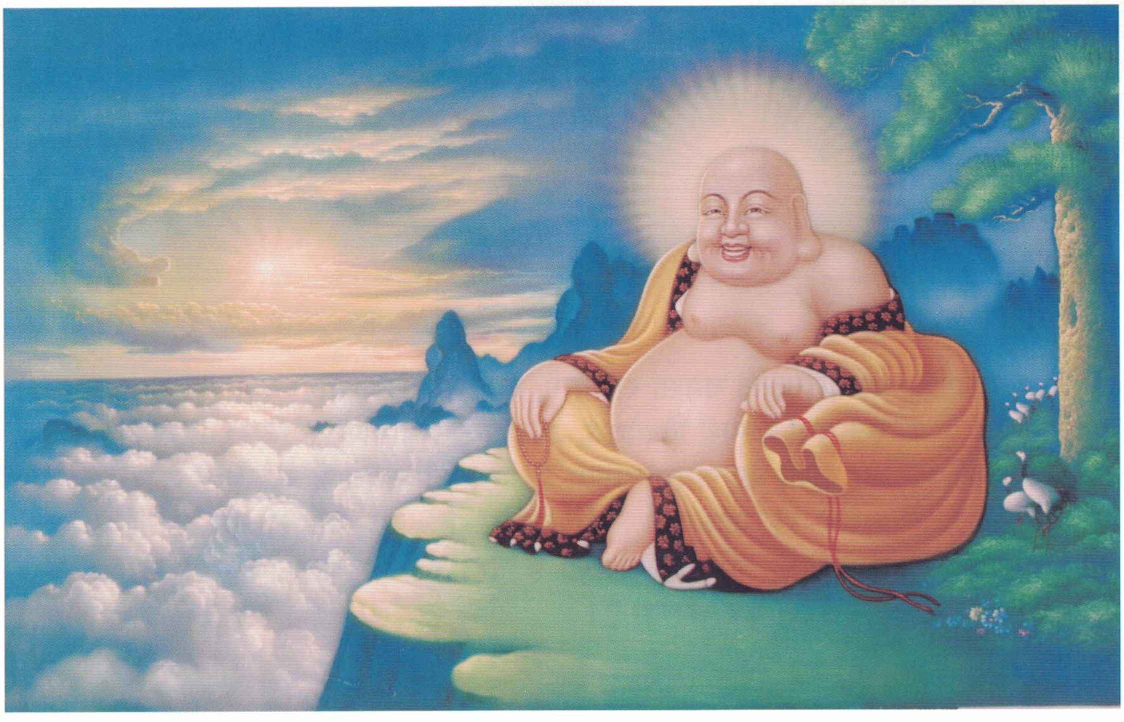
वन में उन भिक्षुओं ने सतत् साधना की, घोर तपस्या की और सभी ने अर्हत्व प्राप्त कर लिया। वे सभी वन से शाक्य-मुनि से आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए चल पड़े। अपनी उपलब्धि से वे बहुत प्रसन्न थे। हृदय उमंग और उत्साह से भरा हुआ था। रास्ते में किसी उपासक ने उन्हें भोजन-दान दिया और अगले दिन के लिए भी आमंत्रित कर दिया।

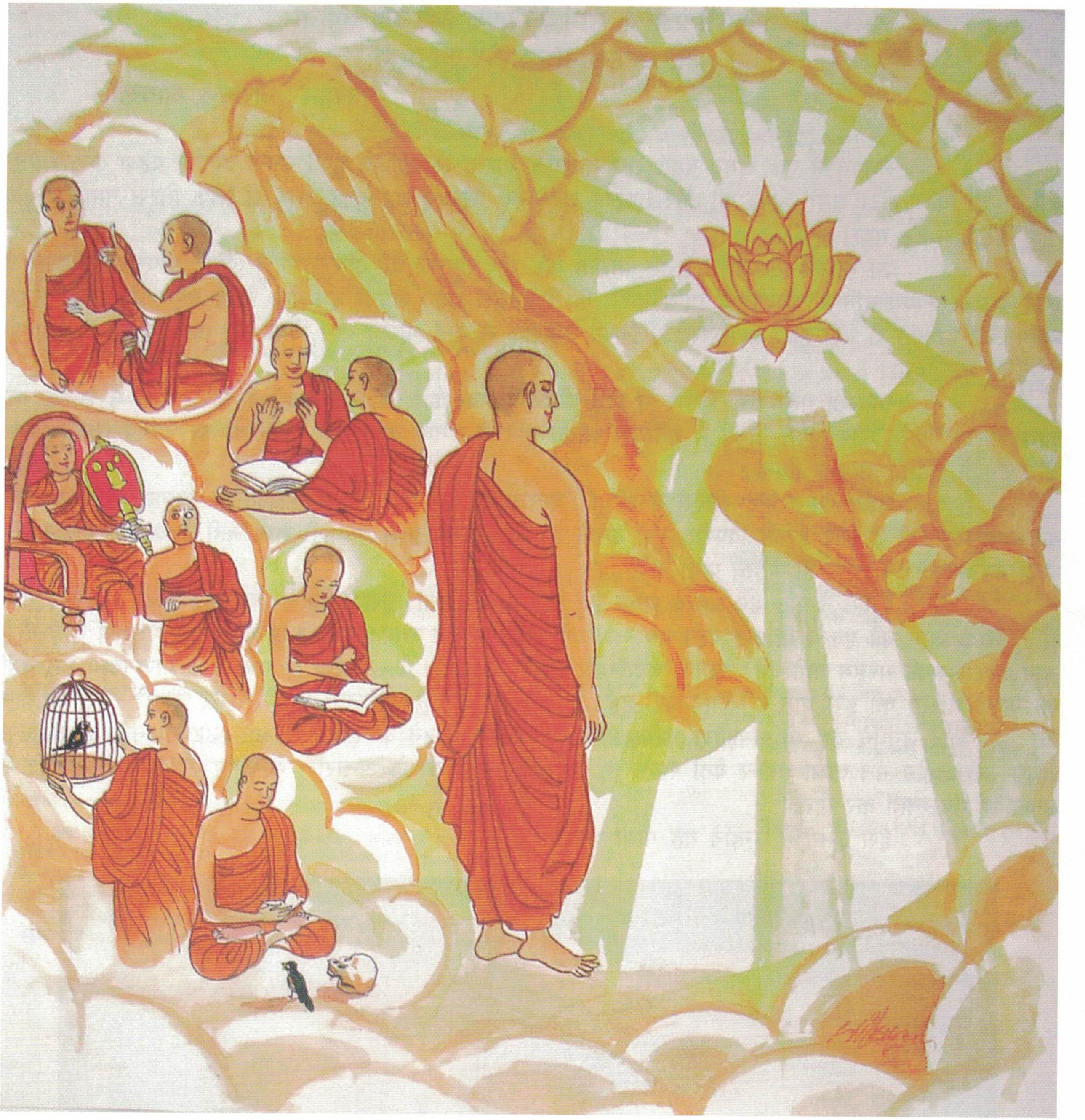
श्रावस्ती पहुँचकर, विहार में पात्र-चीवर रखकर इन सफल भिक्षुओं ने संध्या बेला में शास्ता को सादर प्रणाम किया और अपने विषय में बताया। शाक्य-मुनि ने उनके कार्य और उपलब्धि पर संतोष व्यक्त किया और उनका स्वागत सत्कार किया।

अर्हत रहित भिक्षु तिस्स ने सोचा, "शास्ता के पास इन सफल भिक्षुओं के स्वागत के लिए शब्दों की कमी पड़ रही है और इसके विपरीत मुझे कहने के लिए उनके पास एक भी शब्द नहीं है क्योंकि मैंने अर्हत्व प्राप्त नहीं किया। मैं आज ही अर्हत्व प्राप्त करूँगा।"

तिस्स ने रात भर अर्हत्व प्राप्ति हेतु चंक्रमणत्व किया। इससे थककर वह एक पत्थर पर गिर गया और उसके जाँघ की एक हड्डी टूट गई। वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा। उसकी आवाज सुन भिक्षुगण दौड़े-दौड़े आए और उसकी मरहम पट्टी की। इलाज करते-करते सुबह हो गई। वे उपासक के पास पुनः भोजनदान हेतु नहीं जा पाये। शास्ता को इस बात की जानकारी हुई। उन्होंने बताया कि पूर्व जन्म में भी तिस्स तुम्हारे लिए व्यवधान बन चुका था। उन्होंने यह भी समझाया, "भिक्षुओ ! जो परिश्रम करने के समय परिश्रम (उद्योग) नहीं करता उस समय उत्साहहीन मन वाला होकर बैठा रहता है, वह आलसी समय के अन्तराल से ध्यान आदि में कोई विशिष्ट उपलब्धि प्राप्त नहीं कर पाता।

इस प्रसंग में उन्होंने यह गाथा कही।





गाथा: वाचानुरक्खी मनसा सुसंवुतो, कायेन च अकुसलं कयिरा।
एते तयो कम्पथे विसोधये, आराधये मग्गमिसिप्पवेदितं।।281।।

अर्थ: जो वाणी पर संयम रखता है, मन को संयत में रखता है और शरीर से पाप-कर्म नहीं करता है; जो व्यक्ति इन तीनों कर्मेन्द्रियों को शुद्ध रखता है वही बुद्ध के बतलाये मार्ग का अनुसरण कर सकता है।

मन-वचन और शरीर को शुद्ध करें
शूकर प्रेत की कथा

स्थान : वेणुवन, राजगृह

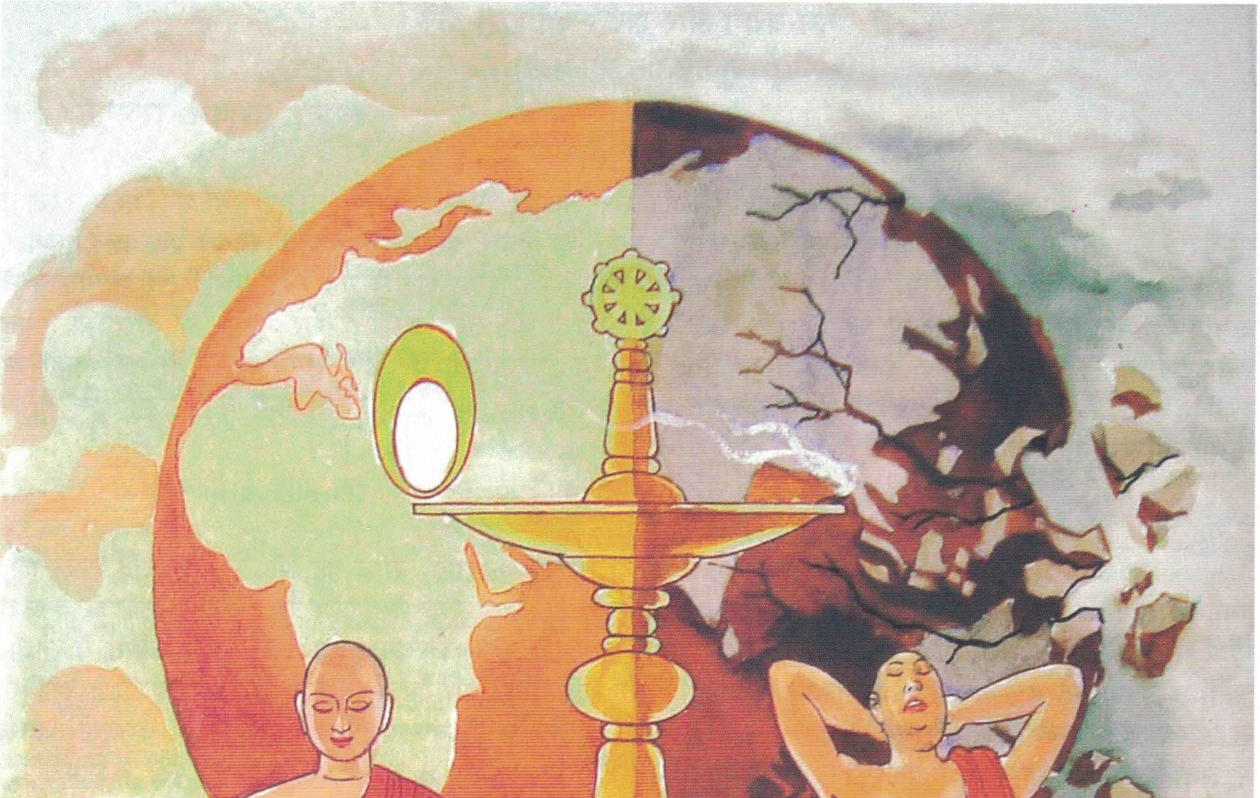
एक बार महामोग्गलान और लक्ष्मण थेर गृध्रकूट पर्वत से नीचे उतर रहे थे। महामोग्गलान मुस्कुराये तो लक्ष्मण थेर ने इसका कारण पूछा। उन्होंने कहा कि विहार चलकर शास्ता के सामने यह प्रश्न पूछना।

दोनों विहार पहुँचे। शाक्य मुनि की उपस्थिति में लक्ष्मण थेर ने यह प्रश्न पूछा। तब मोग्गलान ने बताया कि उन्होंने एक प्रेत देखा था जिसका शरीर तो मनुष्यों की तरह था पर सिर सूअर की तरह था। यह सुनकर तथागत बोले, "मैंने भी इस प्रेत को बोधिवृक्ष के निकट देखा था पर उस समय किसी से नहीं कहा था क्योंकि अगर मैं किसी से कहता और वह विश्वास नहीं करता तो अपने लिए गलत कर्म का सृजन कर लेता। मोग्गलान सच कह रहे हैं।"

शिष्यों ने उसके पूर्व जन्म की गति जाननी चाही कि वह कैसे इस योनि में प्रकट हुआ। तब बुद्ध ने यह कथा सुनाई।

प्राचीन काल में काश्यप बुद्ध के समय दो भिक्षु, एक साठ साल का और एक उनसठ साल का, जिनमें परस्पर गाढ़ी मैत्री थी, एक साथ एक विहार में रहते थे। वहाँ एक धम्मकथा सुनाने वाला आया। वे उसे गाँवों में धर्मकथा सुनाने के लिए ले जाने लगे। इन दोनों स्थविरों के सरल स्वभाव को देखकर धर्मकथित ने सोचा, "क्यों न इनमें फूट डालकर, इन्हें विहार से निकाल दूँ तथा यह विहार हथिया लूँ।" ऐसा सोचकर वह दोनों स्थविरों से अलग-अलग एक दूसरे की चुगली करने लगा। स्थविरों को उसके षड्यंत्र का भान न हुआ और वे दोनों आपस में लड़ बैठे और विहार से निकल गए। वर्षों बाद दोनों कहीं पर फिर एक साथ मिले और रो पड़े । आपस की बातचीत से पता चला कि किस प्रकार उस धर्मकथित ने उनके अन्दर फूट डाली थी। वे दोनों विहार लौटे और मार-मार कर उस धर्मकथित को विहार से बाहर निकाल दिया। पर धर्मकथित ने इतना बड़ा पाप किया था कि उसके द्वारा किया गया पुण्य भी उसे नहीं बचा पाया। वह नरक लोक में जा गिरा और फिर शूकर की योनि में जन्म लिया। शास्ता ने शिष्यों को समझाया, "मनुष्य को मन, वचन और कर्म से सदा शांत आचरण करना चाहिए।"





गाथा: योगा वे जायती भूरि, अयोगा भूरिसङ्खयो।
एतं द्वेधापथं ञत्वा, भवाय विभवाय च।
तथत्तानं निवेसेय्य, यथा भूरि पवड्ढति।।282।।

अर्थ: योग अभ्यास से ज्ञान बढ़ता है और योग न करने से ज्ञान का क्षय होता है। लाभ और हानि इन दोनों प्रकार के मार्ग को जानकर साधक अपने आप को ऐसा रखे जिससे उसमें ज्ञान की वृद्धि हो।

प्रज्ञा की वृद्धि के लिए यत्न करें
पोटिल स्थविर की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

जेतवन विहार में पोटिल नामक एक स्थविर रहते थे। वे त्रिपिटक के ज्ञानी थे, प्रवचन तो देते थे पर स्वयं मार्ग फल प्राप्त नहीं किया था। शास्ता को ज्ञात था कि इनके अन्दर अभी भी अहंकार समाप्त नहीं हुआ है। अतः वे उसे 'तुच्छ पोटिल' कहकर संबोधित करते थे।

एक दिन पोटिल ने सोचा, "मैंने त्रिपिटक का गहराई से अध्ययन कर लिया है। अन्य धर्मग्रंथों को भी पढ़ा है। फिर भी तथागत मुझे 'तुच्छ पोटिल' कहकर ही संबोधित करते हैं; शायद इसलिए कि मैंने अर्हत्व प्राप्त नहीं किया है।" ऐसा सोचकर उसे अपने आप पर बहुत ग्लानि हुई और प्रातः काल ही वह धर्मश्रवण कर विहार से निकल गया। जेतवन से तीस योजन दूर चल एक जंगल में पहुँच गया जहाँ तीस अर्हत भिक्षु साधना करते थे। वहाँ पहुँच कर उसने सादर प्रणाम किया और संघस्थविर से बोला, "अर्हत प्राप्ति हेतु कृपया मेरा आश्रय बनिए।" संघस्थविर इसके लिए तैयार न हुए क्योंकि उन्हें मालूम था कि इसे अपने पढ़े हुए का अभिमान है। सभी भिक्षु उसे टालते रहे। अंत में उसे एक सात वर्षीय भिक्षु के पास भेज दिया। इस प्रकार पोटिल का मान मर्दन हो गया।

जब पोटिल का मान मर्दन हो गया तब उसने श्रामनेर से प्रार्थना की, "आप मेरे अर्हत बनने का आधार बनिए। मैं आपकी सभी आज्ञाओं का पालन करूँगा। अगर आग में कूदने के लिए कहेंगे तो आग में भी कूद जाऊँगा।" तब श्रामनेर ने उसकी परीक्षा लेनी चाही। उससे कहा, "आप जिस स्थिति में हैं उसी स्थिति में सामने के सरोवर में कूद जाइए।" पोटिल कूदने को उद्यत हुए तो श्रामनेर ने उसे बुला लिया फिर श्रामनेर ने उसे समझाया कि मनोद्वार के माध्यम से साधना प्रारंभ करो। पोटिल को लगा कि जैसे अंधकार में किसी ने दीपक जला दिया हो। वह अपने मलयुक्त शरीर के ऊपर चिंतन करता हुआ साधना करने लगा।

शास्ता ने यह सब कुछ देखा और पोटिल के सामने अपनी दिव्य आभा बिखेरते हुए यह गाथा कही।





गाथा: वनं छिन्दथ मा रुक्खं, वनतो जायती भयं।
छेत्वा वनं च वनथञ्च, निब्बना होथ भिक्खवो।।283।।

अर्थ: वासनाओं (आसक्ति) के वन को काटो केवल वृक्ष (शरीर) को नहीं। इस वन (वासना-वन) से भय उत्पन्न होता है। हे साधकों ! वन को तथा झाड़ियों (तृष्णा) का काटकर तुम वन वासना (आसक्ति) रहित हो जाओ।

आसक्ति और कामना को काटो
वृद्ध भिक्षुओं की कथा
स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

जिन दिनों बुद्ध जेतवन में वास करते थे उन दिनों बहुत सारे वृद्ध पुरुष एक साथ प्रव्रजित हो गए। वे सभी अपने गृहस्थ आश्रम में अच्छे-अच्छे परिवारों में पैदा हुए थे तथा आपस में मित्र भी थे। वे सत्कर्म के फल से तथा तथागत के प्रवचनों से प्रभावित होकर भिक्षु हो गए थे। यह सोचकर कि 'अब हम बूढ़े हो रहे हैं, अब हमारा गृहस्थ आश्रम में रहना शोभनीय नहीं है' वे प्रव्रजित हो गए थे। शास्ता ने उन्हें प्रव्रज्या दिला तो दी थी पर वे धर्म श्रमण का दृढ़ता से पालन करने में असमर्थ थे। अत: उन्होंने विहार के बाहर ही एक पर्णशाला बना ली और उसी में रहने लगे। भिक्षाटन हेतु जब वे जाते तो अपने परिवार वालों के पास ही जाते। उनमें से एक की पत्नी का नाम मधुरपाचिका या महामधुरिका था। वह बहुत ही स्वादिष्ट भोजन बनाती थी और उन्हें दान स्वरूप देती थी। वे सभी भिक्षु भिक्षाटन में जो भोजन मिलता उसे लेकर उस स्त्री के घर आते थे। वह स्त्री भी सूप, व्यंजन आदि जो कुछ बना होता, दे देती थी। वे सभी उसी के घर में बैठकर खाना खाया करते थे।

एक दिन किसी गम्भीर बीमारी के कारण मधुरपाचिका का देहान्त हो गया। वे सभी वृद्ध स्थविर उस स्थविर के घर पर एकत्र हुए जिसकी वह पत्नी थी और आपस में गले लगकर जोर-जोर से विलाप करने लगे, "उपासिका, मधुरपाचिका का देहान्त हो गया। वह हम लोगों पर अनन्य कृपा रखती थी। अब उसके जैसा कृपालु कहाँ मिलेगा ? " इस प्रकार करूणापूर्ण दृश्य उत्पन्न हो गया। अन्य भिक्षुओं ने उनका करूण क्रन्दन सुना तो उनके पास आए और उनसे क्रन्दन का कारण पूछा। उन्होंने बता दिया कि मधुरपाचिका संसार से चल बसी ।

संध्या बेला में धर्म सभा में यह बात उठी। तब शास्ता ने काक जातक कहकर पूर्व काल की घटना सुनाई, "भिक्षुओं ! आज से बहुत जन्मों पूर्व ये सभी काक योनि में उत्पन्न हुए थे। वे समुद्र के किनारे रहते थे। एक बार समुद्र के किनारे विचरण करते समय उनकी मादा कौआ (काकी) समुद्र में बह गई। सभी मिलकर रोने लगे, विलखने लगे। उन्होंने निश्चय किया कि हम सभी मिलकर समुद्र को सुखा डालेंगे और काकी को फिर प्राप्त कर लेंगे। तब इन कौओं ने अपने चोंच में समुद्र का जल भर कर बाहर फेंकना शुरू किया। लेकिन वे जितना जल समुद्र से बाहर फेंकते थे उससे अधिक जल समुद्र में आ गिरता था। इस प्रकार उस जन्म में भी ये बहुत दु:खी हुए।"





गाथा: याव हि वनथो न छिज्जति, अणुमत्तोपि नरस्स नारिसु।
पटिबद्धमनो व ताव सो, वच्छो खीरपको व मातरि।।284।।

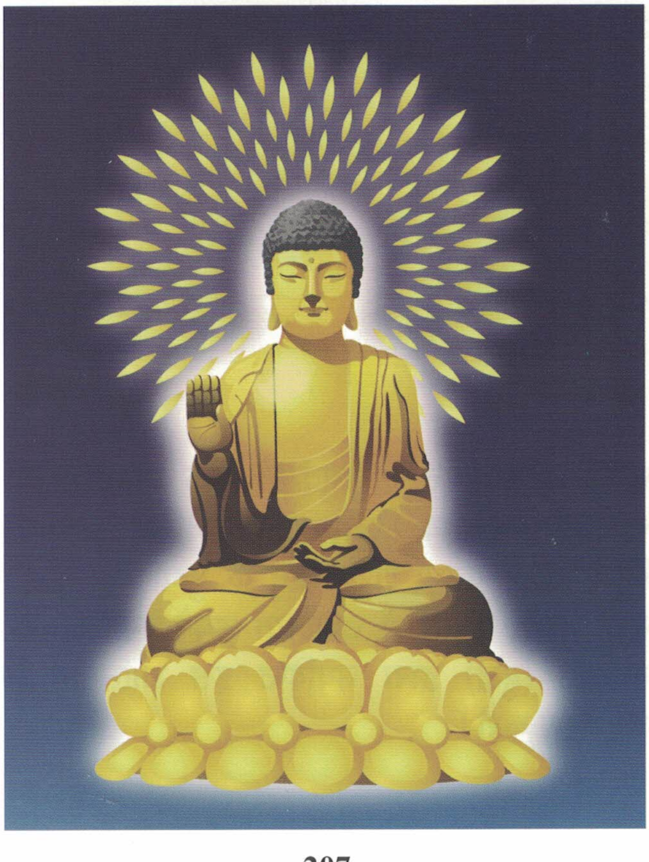
अर्थ: जब तक जरा सा भी (अणुमात्र भी) पुरुष के मन में स्त्रियों के प्रति कामना बनी रहती है तब तक वह उनसे वैसा ही बँधा रहता है और मुक्त नहीं होता जैसे दूध पीने वाला बछड़ा अपनी माँ से बँधा रहता है।

काम वासना के बंधन से मुक्त हों
वृद्ध भिक्षुओं की कथा

उनके पूर्व जन्म की कथा कहते हुए शाक्य-मुनि ने उनका कथन सुनाया, "हम समुद्र को सुखाने का प्रयत्न कर रहे हैं पर समुद्र को सुखाने में सफल नहीं हो रहे हैं। हमारी चोंच थक गई और मुँह भी सूखता जा रहा है। हम सभी थककर चूर हो रहे हैं। दूसरी ओर यह महासमुद्र बार-बार भरता ही जा रहा है।"

इस प्रकार काकजातक की कथा सुनाकर, उन वृद्ध भिक्षुओं को बुलाकर समझाया, "भिक्षुओं ! राग, द्वेष और मोह के वन के कारण ही तुम्हें कष्ट हो रहा है। तुम्हें इस वन को काट देना चाहिए। तभी तुम दु:खों से मुक्त हो सकोगे। वन को काटना ही तुम्हारा प्रथम कर्त्तव्य होना चाहिए।" तुम लोग वृक्ष को काटने पर अपनी ऊर्जा लगा रहे हो। वृक्ष को मत काटो। एक वृक्ष को काटोगे तो दूसरा वृक्ष निकल आयेगा। अगर वृक्ष को काटने पर ध्यान दोगे तो एक-एक वृक्ष से उलझते रहोगे। क्रोध काटोगे तो द्वेष रूपी वृक्ष उठ खड़ा हो जाएगा। द्वेष को काटोगे तो लोभ नामक वृक्ष उग आयेगा। जब लोभ को काटोगे तो पाओगे कि अब काम रूपी वृक्ष उग गया है और अब सारी शक्ति उसे काटने में लग रही है। इसलिए एक वृक्ष काटने की बजाय पूरा का पूरा वन ही काट डालो। अन्यथा मूल जहाँ का तहाँ विद्यमान रहेगा। वन और झाड़ी को काट वनरहित अर्थात् वासना रहित हो जाओ।"

शाक्य मुनि ने "वन को काटने" का उपदेश दिया तो वे सभी प्रव्रजित वृद्ध भिक्षु सोच बैठे कि शास्ता ने उन्हें पेड़ काटने की आज्ञा दी है। अतः वे फरसा, कुल्हाड़ी आदि लेकर पेड़ काटने को उद्यत हुए। तब शास्ता ने उन्हें समझाया कि 'वन' से उनका अभिप्राय 'वन वृक्ष' नहीं था अपितु उनका अभिप्राय 'राग आदि का क्लेश वन काटने का था।' उन्होनें पेड़ काटने से मना किया और समझाया कि जैसे वन में सिंह, बाघ आदि का भय रहता है उसी प्रकार जीवन के क्लेशवन में भी जन्म, मरण, जरा, बीमारी आदि का भय बना रहता है। "जब तक किसी पुरुष में वासना रूपी क्लेश अणुमात्र भी बचा रहता है तब तक, दूध पीने वाले बछड़े की गाय में आसक्ति की तरह, पुरुष की भी स्त्रियों में आसक्ति बनी रहती है।"





गाथा: उच्छिन्द सिनेहमत्तनो, कुमुदं सारदिकं व पाणिना।
सन्तिमग्गमेव ब्रूहय, निब्बानं सुगतेन देसितं।।285।।

अर्थ: जिस प्रकार मनुष्य शरद ऋतु के पुष्पों को तोड़ डालता है, उसी प्रकार संसार में उपस्थित अपने स्नेह को काट डालो। तथागत (बुद्ध) द्वारा उपदिष्ट इस शांतिमार्ग निर्वाण का अनुसरण करो।

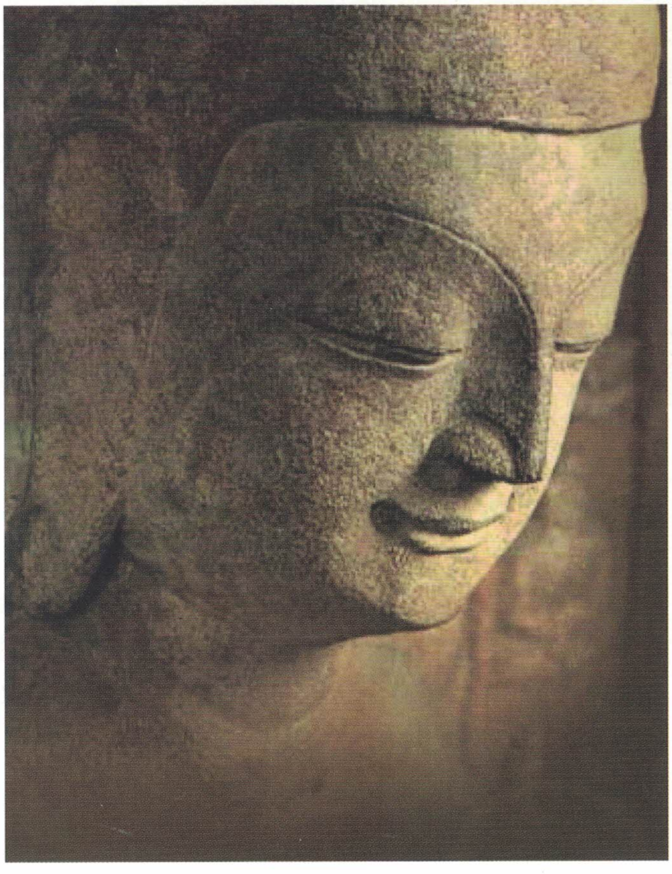
शरद ऋतु के पुष्पों की तरह आसक्ति को काट डालो
सुवर्णकार थेर की कथा

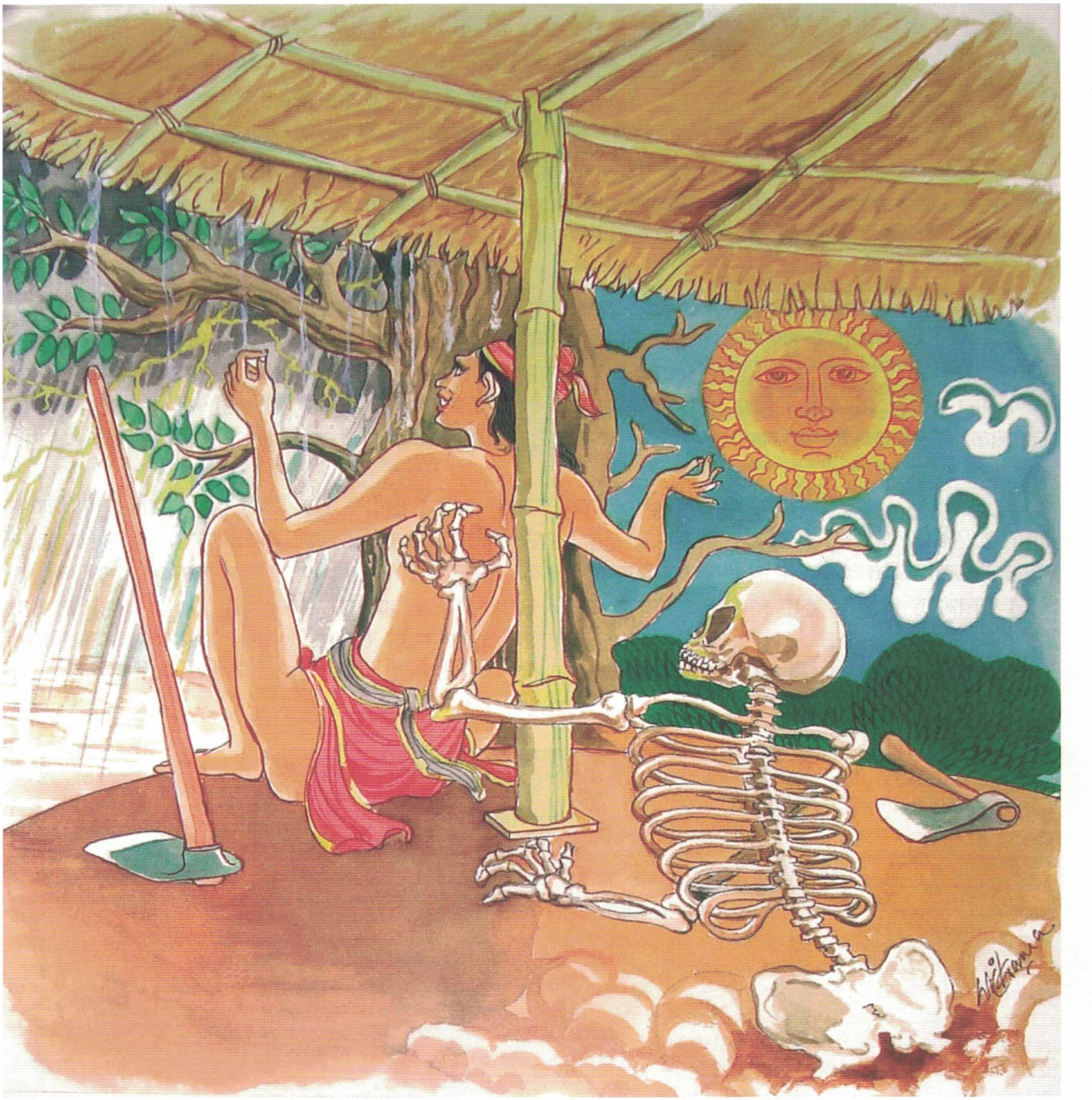
स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

सारिपुत्त का एक शिष्य स्वर्णकार कुल में पैदा हुआ था। वहीं से उसने प्रव्रज्या ग्रहण की। सारिपुत्त ने ध्यान विपश्यना के लिए रागविरोधी कर्म स्थान बताया। उस शिष्य ने तीन महीने तक प्रयत्न किया पर सफल नहीं हो पाया। सारिपुत्त ने उसे वही कर्मस्थान तीन बार समझाया पर वह तीनों ही बार असफल रहा। तब स्थविर ने सोचा , "मेरा शिष्य बुद्धिमान है, मूर्ख नहीं है। संभव है मैं इसे ठीक से नहीं समझा पाया हूँ। अतः शाम में शास्ता के पास ले चलता हूँ।" ऐसा सोचकर शाम में वे उस शिष्य को शाक्य-मुनि के पास ले गए।

शास्ता ने अपनी अन्तर्दृष्टि से समझ लिया कि यह शिष्य पिछले पाँच सौ जन्मों में सुवर्णकारों के कुल में जन्म लेता रहा है और विभिन्न प्रकार के पुष्प आदि बनाता रहा है। अतः उन्होंने अपने ऋद्धिप्रभाव से एक सुवर्णकमल देकर उसे कहा, "भिक्षु ! विहार के सीमा प्रदेश पर जाकर इस कमल की डंडी को जमीन में गाड़कर 'लोहितक, 'लोहितक' (लाल, लाल) यह शब्द बार-बार दुहराओ।" वह प्रसन्न चित्त होकर ध्यान-साधना में रत हुआ और चतुर्थ ध्यान को प्राप्त कर लिया।

अब तथागत ने अपनी शक्ति से उस कमल-पुष्प को सुखाना शुरू किया। उसे मुर्झाते हुए देखकर शिष्य को जीवन की अनित्यता का बोध होने लगा। उसे अनित्यता का बोध खूब अच्छी तरह हो गया। बुद्ध ने उसके मन की प्रवृत्ति देखी तो कन्धकुटी में बैठे-बैठे उसकी ओर प्रकाश डाला। यह प्रकाश उसके मुँह पर पड़ा तो उसने सोचा यह क्या है। उसे लगा मानों शास्ता उसके सामने खड़े हैं तथा उसे समझाया, "भिक्षु ! तृष्णा को काट दो। जिस तरह मनुष्य शरद ऋतु के कुमुद को अपने हाथों द्वारा आसानी से काट लेता है उसी तरह स्व-स्नेह को काट डालो। यह स्व स्नेह एक झटके से टूट सकता है। हिम्मत चाहिए।" फिर उन्होंने यह गाथा कही।





गाथाः इध वस्सं वसिस्सामि, इध हेमन्तगिम्हिसु।
इति बालो विचिन्तेति, अन्तरायं न बुज्झति।।286।।

अर्थः मैं यहाँ वर्षाऋतु में रहूँगा और यहाँ हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में वास करूँगा मूर्ख व्यक्ति इस प्रकार सोचता है और अपने जीवन पर आने वाले किसी संभावित संकट पर ध्यान नहीं देता कि मैं किसी भी समय, देश अथवा उम्र में इस जीवन से कूच कर सकता हूँ।

सिर्फ मुर्ख ही विघ्न नहीं देखता
महाधनी व्यापारी की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

एक उपासक वाराणसी से कुसुम और लाल रंग में रंगे हुए कपड़ों की गाड़ियाँ लेकर व्यापार के लिए श्रावस्ती पहुँचकर रुक गया कि "कल नदी पार करूँगा।" रात में बड़ी तेज बारिश हुई और नदी में सात दिनों तक पानी लबालब भरा रहा। वह नदी पार नहीं जा सका। अतः उसने सोचा, "मैं इतनी दूर से आया हूँ। अगर इन वस्त्रों को फिर ढोकर वाराणसी जाऊँगा तो कोई विशेष लाभ नहीं होगा। क्यों नहीं, यहीं रहकर वर्षा, हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में परिश्रम करके इन कपड़ों को यहीं बेच दूँ ? "

शास्ता ने भिक्षाटन करते समय, उसकी मनःस्थिति देखी और मुस्कुरा दिए। आनन्द ने इसका कारण पूछा तो उन्होंने बताया, "आनन्द ! इस धनी व्यापारी को देख रहे हो ? " "हाँ भन्ते ! " "यह एक वर्ष तक की योजना बना रहा है। पर अपने जीवन पर आये संकट को नहीं देख रहा है।" "परन्तु इसके जीवन पर क्या संकट है, भन्ते ! " "एक सप्ताह में इसका देहान्त हो जाएगा।" यह कहते हुए शास्ता ने ये गाथायें कहीं, "पता नहीं हमारी मृत्यु कब हो जाएगी ? अतः हमें अभी तत्काल ही शुभ कर्मों में लग जाना चाहिए। उस विशाल सेना वाले यमराज से हमारी क्या प्रतिद्वन्दिता हो सकती है ? " "दिन-रात आलस्यरहित हो उद्योग करने वाले साधक को मुनिजन "भद्रैकरात्र" कहते हैं।"

शाक्य-मुनि से अनुमति लेकर आनन्द उस महाधनिक के पास गए और उसके जीवन पर आये संकट के विषय में बता दिया। अपने कल्याण के लिए व्यापारी ने पूरे सप्ताह बुद्ध और भिक्षुसंघ को आमंत्रित कर भोजन दान दिया। शास्ता ने भक्तानुमोदन करते हुए समझाया, "उपासक ! समझदार व्यक्ति को 'संसार में मैं इतने वर्षों तक रहकर यह महान कार्य करूँगा' ऐसी योजना नहीं बनानी चाहिए। अपने जीवन पर संकट का ध्यान रखते हुए सतत् धर्म चिंतन करना चाहिए।

फिर उन्होंने यह गाथा कही।





गाथा: तं पुत्तपसुसम्मत्तं, ब्यासत्तमनसं नरं।
सुत्तं गामं महोघो व, मच्चु आदाय गच्छति।।287।।

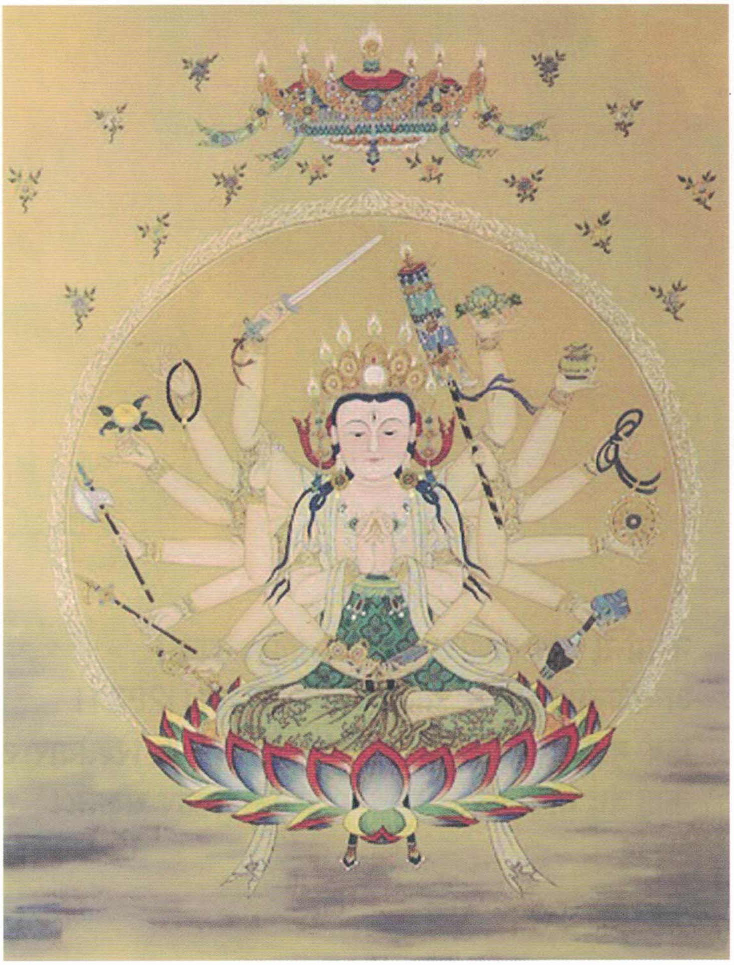
अर्थ: जैसे सोये हुए गाँव को कोई बड़ी बाढ़ बहाकर ले जाती है वैसे ही पुत्र और पशु के नशे में धुत्त आसक्तचित्त पुरुष को मौत लेकर चली जाती है।

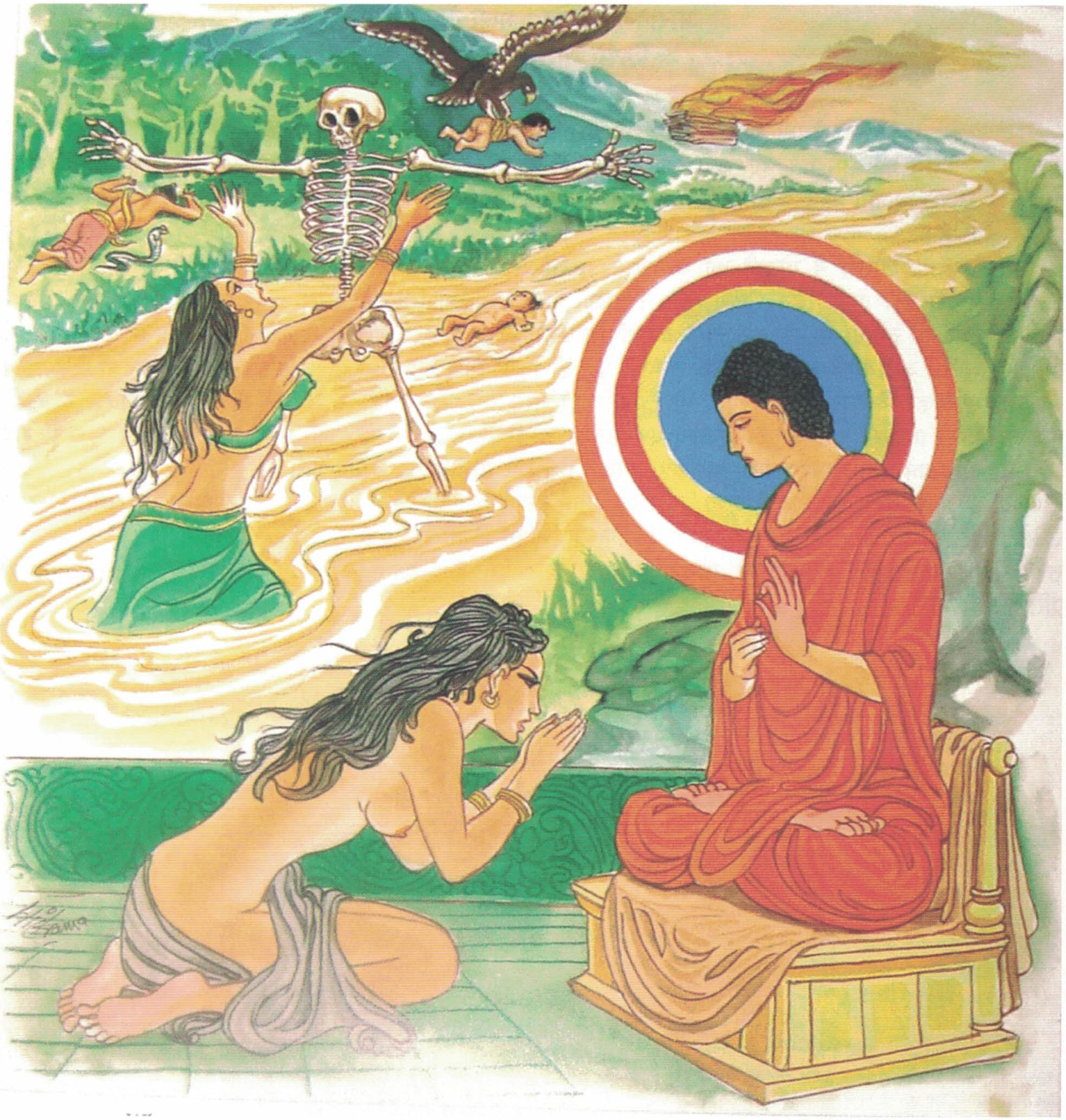
आसक्त व्यक्ति : मृत्यु के अधीन
किसा गोतमी की कथा

किसा गोतमी का प्रसंग पहले भी 'धम्मपद' के 'सहस्त्रवर्ग' (गाथा 114) में आ चुका है। वहाँ शास्ता ने गोतमी को समझाते हुए कहा था, "अमृत स्थान (निर्वाण) को बिना देखे हुए सौ वर्षों तक जिन्दा रहना व्यर्थ है। उसके बजाय यदि कोई अमृत स्थान (निर्वाण) को देखकर सिर्फ एक दिन भी जीवित रहता है तो वह जीवन श्रेष्ठ है।"

शास्ता ने गोतमी को थोड़ा-सा सरसों लाने के लिए कहा था, सिर्फ ऐसे घर से नहीं लाना था जहाँ कोई मरा हो। दूसरे दिन शाक्य मुनि ने पूछा, "किसा गोतमी ! सरसों मिली ? " "नहीं भन्ते ! इस गाँव में जीवित लोगों की तुलना में मरे हुए लोगों की संख्या अधिक है, " किसा गोतमी ने कहा। तब तथागत ने उसे समझ ाया, "गौतमी ! कल तुम्हें लगता था कि तुम्हारा पुत्र ही सिर्फ मृत्यु को प्राप्त हुआ है; परन्तु आज सरसों के माध्यम से समझ गई हो कि घर-घर की एक ही कहानी है। मृत्यु की ओर जाना सभी प्राणियों की स्वाभाविक गति है। मृत्युराज सभी प्राणियों को, उनका संकल्प पूरा हो या न हो, मृत्यु की तरफ उसी तरह बहा ले जाता है जैसे बाढ़ सोये हुए गाँव को बहाकर ले जाती है।" यह उपदेश देते हुए उन्होंने यह गाथा कही।

टिप्पणी: आसक्त पुरुष का अर्थ है ऐसा पुरुष जो अपने रूप, बल, धन, पद आदि पर अभिमान करने लगता है तथा उनमें आसक्ति उत्पन्न कर लेता है। जब नदी की बाढ़ आती है तो वह एक कुत्ते को भी बहाये बिना नहीं छोड़ती, उसी प्रकार प्रमादयुक्त व्यक्ति को मृत्युराज लेकर चल देते हैं। देशना के अंत में किसा गोतमी स्रोतापन्न में प्रतिष्ठित हो गई।





गाथा: न सन्ति पुत्ता ताणाय, न पिता नापि बन्धवा।
अन्तकेनाधिपत्रस्स, नत्थि ञतिसु ताणता।।288।।

अर्थ: जब मृत्यु आती है तो न पिता, न पुत्र, न रिश्तेदार और न कोई बंधु बान्धव ही - काई भी रक्षा नहीं कर सकता।

मृत्यु आगमन पर कोई बच नहीं सकता
पटाचारा की कथा

पटाचारा का प्रसंग पहले भी 'धम्मपद' के 'सहस्त्रवर्ग' (गाथा 113) में आ चुका है। वहाँ शास्ता ने कहा था, "सांसारिक पदार्थों के उत्पाद और विनाश को न देखा जाए और सौ वर्षों तक भी जीवित रहा जाए तो वह जीना व्यर्थ ही है। इसके विपरीत यदि उत्पाद और विनाश को देखते हुए एक दिन का जीवन भी जिया जाये तो वह अधिक श्रेयस्कर है।"

पटाचारा के जीवन की कथा दु:खों की पराकाष्ठा की कथा है। उसने अपना पति गँवाया, दो पुत्र खोये, माता-पिता और सभी भाई-एक ही समय काल कवलित हो गए। वह भीतर से पूरी तरह टूट चुकी थी और ऐसी मन:स्थिति के साथ जेतवन में शाक्य-मुनि के सम्मुख उपस्थित हुई थी। ऐसे समय बुद्ध के वचन उसके लिए मरूभूमि में तरूवर की शीतल छाया के समान लगे। पटाचारा का शोक कुछ कम हुआ तो तथागत ने उसे समझाया था, "पटाचारे ! परलोक जाने वाले का कोई भी शरण स्थल नहीं हो सकता- न तो उसका पुत्र, न कोई सगा-संबंधी और न कोई मित्र। कोई किसी का रक्षक नहीं हो सकता है। अत: अंत समय में कोई भी किसी प्रकार काम नहीं आने वाला है। पुत्र, सगे-संबंधी या मित्रों का रहना या नहीं रहना दोनों ही एक समान है। इस सच्चाई को समझकर बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने शील का विशोधन कर निर्वाण के मार्ग को साफ करे ताकि वह उस मार्ग पर चल सके।"





गाथा: एतमत्थवसं ञत्वा, पण्डितो सीलसंवुतो।
निब्बानगमनं मग्गं, खिप्पमेव विसोधये।।289।।

अर्थ: इस सत्य को जानकर शीलवान, समझदार, पंडित पुरुष को चाहिए कि वह निर्वाण की ओर ले जाने वाले मार्ग को शीघ्र ही साफ करे (गमन करे)

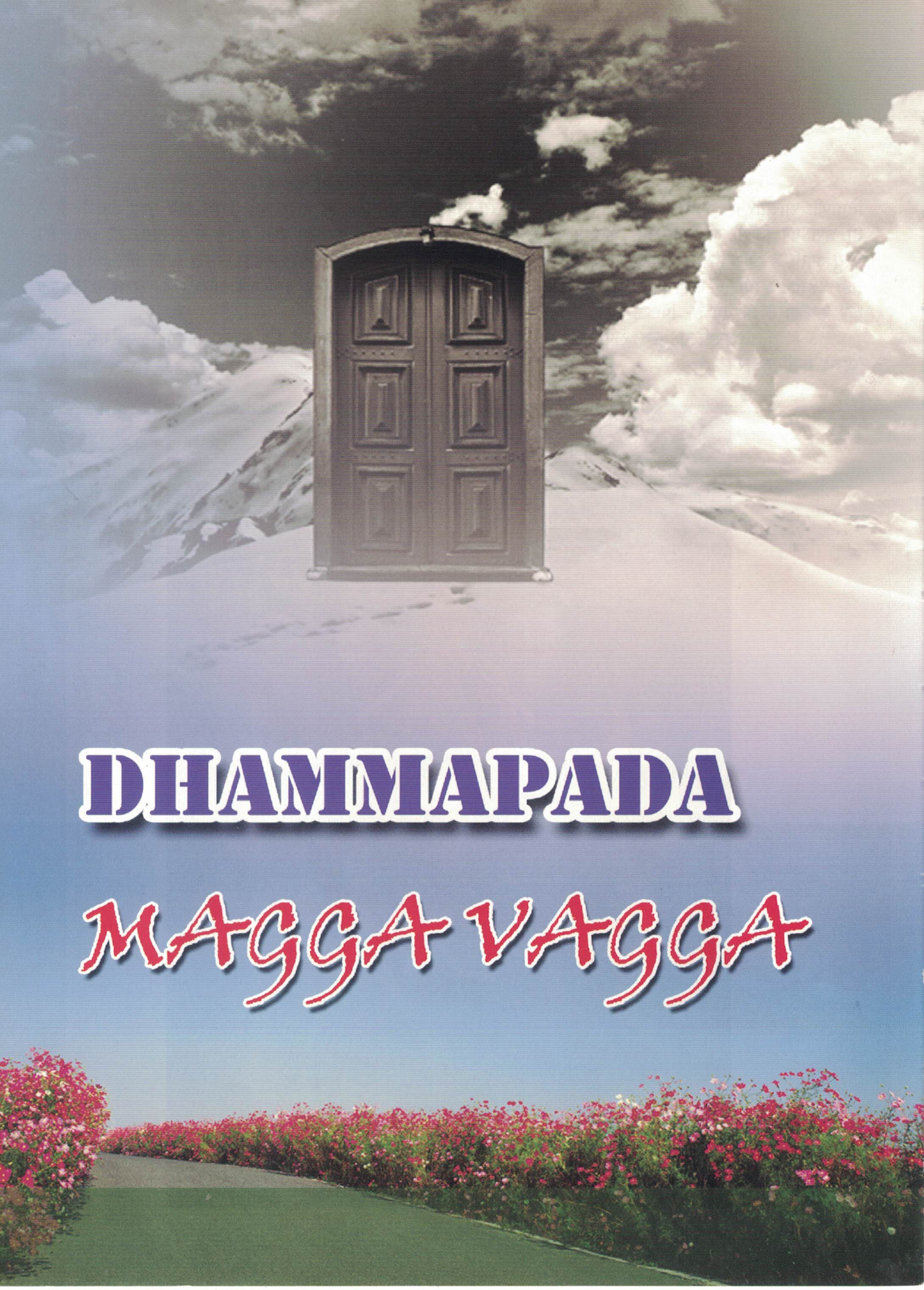
शीलवान निर्वाण मार्ग पर गमन करें
पटाचारा की कथा

इसके बाद बुद्ध ने पटाचारा को संबोधित कर ये दो गाथायें सुनाईं।

टिप्पणी: सांसारिक चीजों में तो पिता-पुत्र, मित्र किसी संकट में सहायक हो भी सकते हैं पर जब मृत्यु आ घेरती है तो उस पर किसी का वश नहीं चलता। अतः सभी असहाय हो जाते हैं तथा रक्षा करने में असमर्थ हो जाते हैं। मृत्यु आती है और इंसान को ले जाती है। मूर्ति की तरह खड़े रहकर देखने के अलावा उनके पास और कोई चारा नहीं रहता। इसीलिए कहा जाता है कि मृत्यु के आने पर कोई किसी की रक्षा नहीं कर सकता है। अगर कोई रक्षा कर सकता है तो वह है- पिछले जन्म में किया गया उसका धर्म और कर्म।

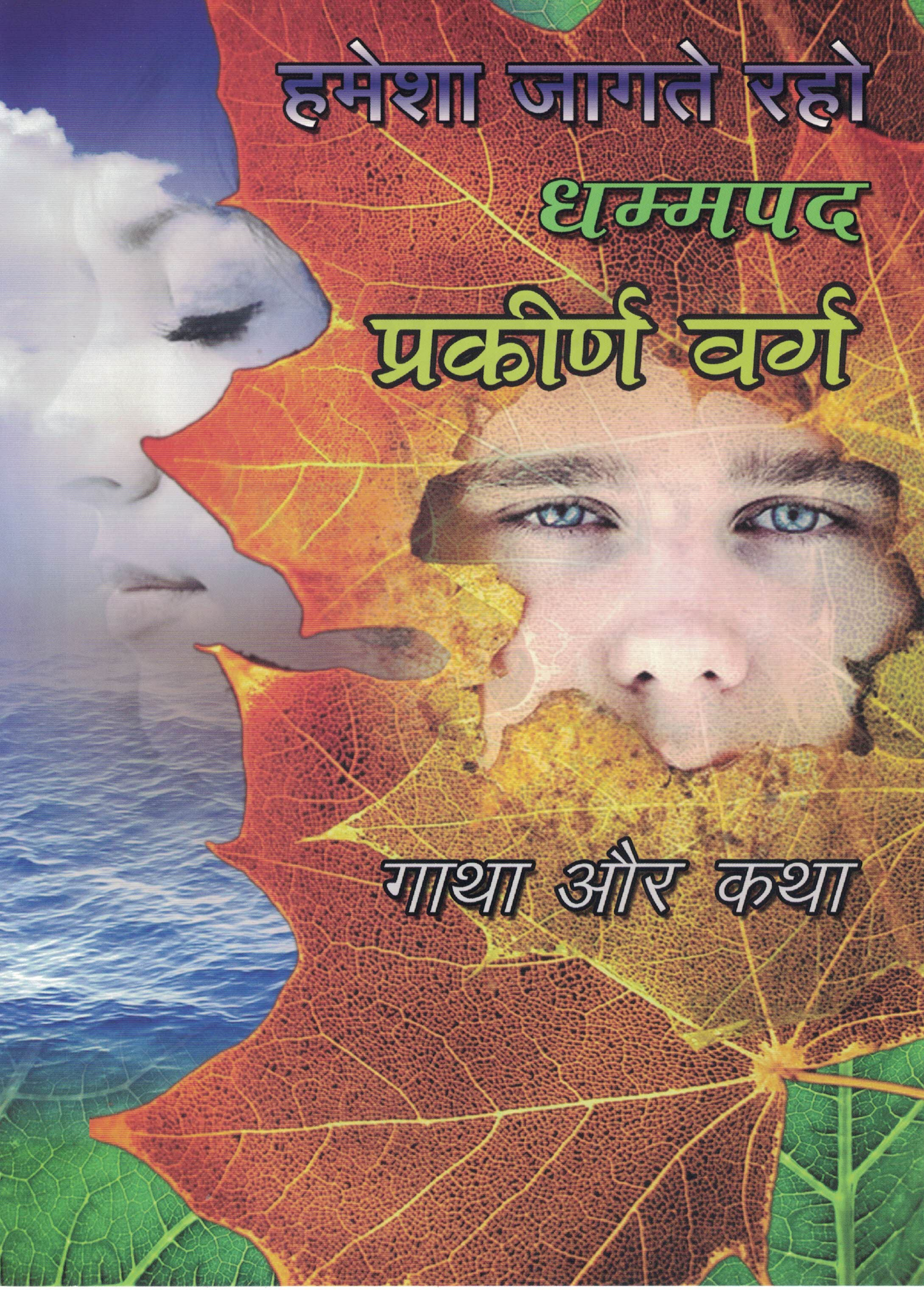
इसलिए मृत्यु रूपी साँप के दंश से बचने के लिए उचित है कि मनुष्य अपने लिए 'धर्म', और 'अच्छे कर्म' बटोरे।





DHAMMAPADA

MAGGA VAGGA


हमेशा जागते रहो
धम्मपद
प्रकीर्ण वर्ग
गाथा और कथा

हमेशा जागते रहो

धम्मपद

प्रकीर्ण वर्ग

गाथा और कथा

संस्कारक
हृषीकेश शरण

विषय सूची

प्रकीर्ण वर्ग



गाथा: मत्तासुखपरिच्चागा, पस्से चे विपुलं सुखं ।
चजे मत्तासुखं धीरो, सम्पस्सं विपुलं सुखं।। 290।।

अर्थ: थोड़े सुख के त्याग से यदि विपुल सुख (निर्वाण) का लाभ दिखे तो बुद्धिमान पुरुष को अपना वह अल्प सुख विपुल सुख की आशा में छोड़ देना चाहिए।

निर्वाण लाभ, सर्वश्रेष्ठ लाभ
गंगारोहण की कथा

स्थान : वेणुवन, राजगृह

एक बार वैशाली में अभूतपूर्व अकाल पड़ा। वहाँ के नागरिक दाने-दाने को मोहताज हो गए। जो सबसे अधिक गरीब थे वे मौत की चपेट में पहले आ गए। उनके शव जहाँ-तहाँ पड़े रहे और उनमें आसक्त होकर भूत-प्रेत आ धमके। उन भूत-प्रेतों के आतंक से भी कई मर गए। महामारी भी फैल गई। इस प्रकार वैशाली एक ही समय में तीन कष्टों से पीड़ित हो गया (1) अकाल का कष्ट (2) भूत-प्रेतों का कष्ट और (3) संक्रामक रोगों का कष्ट।

राजा और नागरिकों ने आपस में मंत्रणा की कि बुद्ध को वैशाली आने का आमंत्रण दिया जाये। उनके आने से सभी कुछ ठीक हो जाएगा। शास्ता उन दिनों राजगृह में वर्षावास कर रहे थे। नागरिकों ने महालि लिच्छवी और पुरोहितपुत्र को राजगृह भेजा कि वे किसी प्रकार शास्ता से प्रार्थना कर उन्हें वैशाली ले आवें। वे राजगृह गए और उन्होंने तथागत से वैशाली चलने का आग्रह किया। बुद्ध ने अपनी अन्तर्दृष्टि से देखा कि अगर वहाँ 'रतनसुत्त पाठ' किया जाए तो वैशाली का कष्ट दूर किया जा सकता है। यह सोचकर शास्ता ने वैशाली चलने की स्वीकृति दे दी।

राजा बिंबिसार को पता चला कि शाक्य-मुनि भिक्षु संघ के साथ वैशाली जा रहे हैं तो उसने सड़क मरम्मत करवा दी, रास्ते में विहार बनवा दिए और उन्हें पूरे स्वागत-सत्कार के साथ गंगा तट से विदा किया। उधर वैशाली वालों ने भी शास्ता के स्वागत में कोई कमी नहीं रखी। राजा स्वयं तथागत का स्वागत करने आया।

बुद्ध ने ज्यों ही वैशाली की भूमि पर चरण रखे, बड़े जोरों से वर्षा होने लगी। वर्षा के जल से शव बहकर गंगा में आ गए। इस प्रकार नगर पूर्णतः साफ हो गया। नगर के साफ हो जाने से सभी भूत-प्रेत भी भाग गए। तब शास्ता ने आनन्द को बुलाकर कहा, "तुम रात्रि के तीसरे प्रहर तक 'रतनसुत्त' का पाठ करते हुए विचरण करो।" स्थविर आनन्द ने वैसा ही किया और नगर त्रिकष्ट से मुक्त हो गया।

रास्ते में लौटते समय राजा बिंबिसार ने पुनः अद्वितीय आदर-सत्कार किया। शास्ता राजगृह चले आए। एक दिन संध्या में धर्म सभा में तथागत के अभूतपूर्व आदर-सत्कार की बात चली। शास्ता ने अपने पूर्व जन्म की बात बताते हुए कहा, "इस स्वागत में किसी का हाथ नहीं है। मैंने ही अपने पूर्व जन्म में एक सद्कर्म किया था। उसी के परिणाम स्वरूप मुझे इतना अधिक आदर-सत्कार मिला है।"

तब उन्होंने यह गाथा कही।





गाथा: परदुक्खूपधानेन, अत्तनो सुखमिच्छति।
वेरसंसग्गसंसट्ठो, वेरा सो न परिमुच्चति।। 291।।

अर्थ: जो दूसरों को दु:ख देकर अपने लिए सुख चाहता है, वैर के संसर्ग में पड़कर वह व्यक्ति वैर से नहीं छूटता।

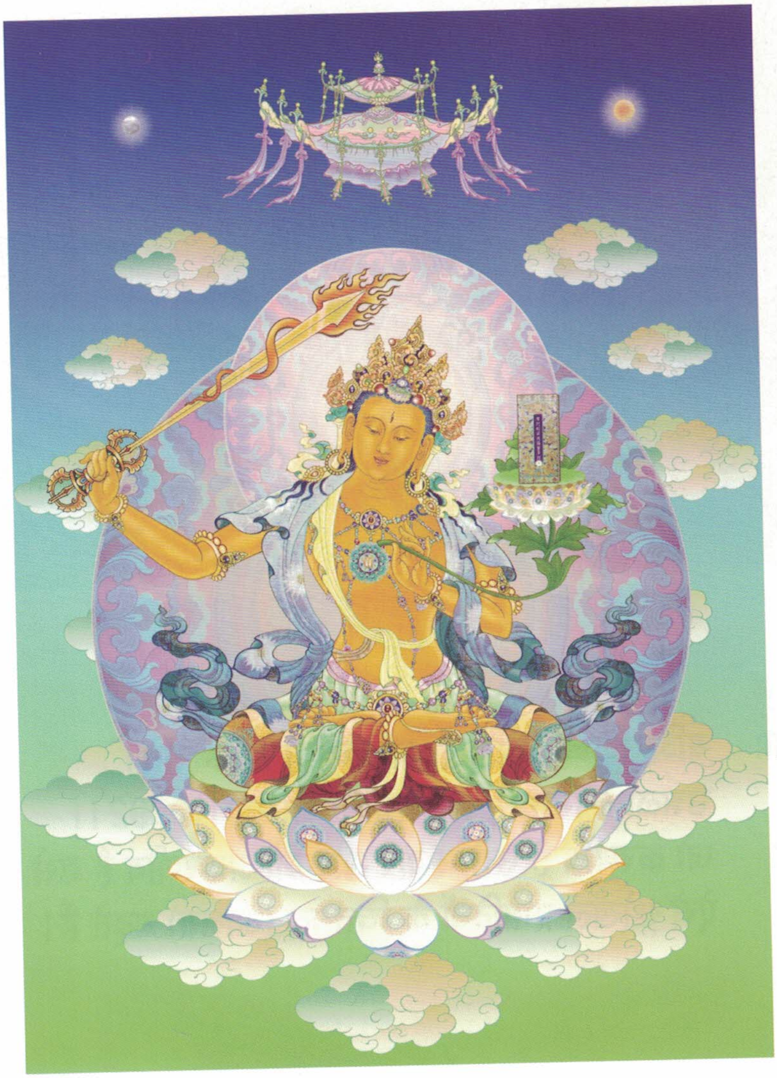
दूसरों को कष्ट देना : सबसे बड़ा पाप
मुर्गी के अंडे खाने वाले की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

श्रावस्ती नगर के निकट पण्डुर नामक एक गाँव था। जहाँ एक महिला रहती थी। उसे मुर्गी के अंडे बहुत अच्छे लगते थे। उसने एक मुर्गी पाल रखी थी। मुर्गी जब भी अंडे देती, वह अंडे खा जाती। मुर्गी को बहुत क्रोध आता था पर वह कुछ कर नहीं सकती थी। अत: उसने बदला लेने का प्रण लिया।

कर्म का चक्र चलता है। अगले जन्म में वह औरत मुर्गी बनी और वह मुर्गी एक बिल्ली। अब इस जन्म में बिल्ली मुर्गी के अंडे खा जाती थी। कालचक्र फिर चला। अगले जन्म में मुर्गी एक तेंदुआ बनी और वह बिल्ली एक हिरणी। तेंदुए ने हिरणी व उसके बच्चे को खा लिया। हिरणी ने अगले जन्म में बदला लेने की ठानी।

दोनों का अगला जन्म बुद्ध काल हुआ। वह हिरणी एक यक्षिणी बनी और तेंदुआ ने एक स्त्री के रूप में जन्म लिया। उस औरत को इस जन्म में एक पुत्र हुआ। एक दिन वह अपने पति के साथ मायके से वापस आ रही थी। रास्ते में तालाब के पास थोड़ी देर सुस्ताने के लिए रुकी। यक्षिणी ने मौका देखकर बालक को मार देना चाहा। माँ बच्चे को लेकर जेतवन की ओर भागी और बच्चे को बुद्ध के चरणों में रख दिया। बुद्ध ने यक्षिणी को भी बुलाया और दोनों को पूर्व जन्मों की कथा सुनाकर समझाया कि वैर का अंत वैर से नहीं होता, वैर का अंत होता है : प्रेम, दया, करुणा और मैत्री से। इसका जिक्र "युग्मवर्ग" (गाथा नं. 5) में भी किया गया है।





गाथा: यञ्हि किच्चं अपविद्धं, अकिच्चं पन कयिरति।
उन्नळानं पमत्तानं, तेसं वड्ढन्ति आसवा।। 292।।

अर्थ: जो करणीय है उसे न करे और जो अकरणीय है उसे करे।
ऐसे खोखले प्रमादियों के चित्तमल (आश्रय) बढ़ते हैं।

कर्म और अकर्म का भेद जानो
भद्दियवासी भिक्षुओं की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

शाक्य मुनि का वास भद्दियनगर में चल रहा था। यह घटना उसी समय की है। वहाँ के भिक्षु अपनी ध्यान-विपश्यना के असली काम को छोड़कर सांसारिक काम- जूते बनाने में लग गए थे। कुछ ने अन्य काम शुरू कर दिया था- जैसे पात्रों को रंगकर सुन्दर बनाने का काम, कपड़ों पर नाना प्रकार की कशीदाकारी आदि-आदि। वे विभिन्न तरह की सजी-सजाई अलंकृत पादुकाओं को या तो बनाते थे या दूसरों से बनवाते थे। पादुकाएं एक से एक सुन्दर होती थीं- तृण की भी, बब्बज घास की भी, खजूर के पत्तों की भी होती थीं। वे कमल और कम्बल से बने चप्पल भी पहनते थे। इस कारण उनके पास ध्यान-विपश्यना का समय ही नहीं बचता था। या वस्तुतः यह कहें कि वे ध्यान-विपश्यना भूल गए थे अथवा ध्यान-विपश्यना से बहुत दूर चले गए थे तो अतिशयोक्ति न होगी।

उनके साथ कुछ शान्त प्रकृति के भिक्षु भी रहते थे। वे सभी यह सब देखकर बहुत विचलित और दुःखी होते थे। जब उन्होंने देखा कि वस्तुस्थिति में कोई सुधार नहीं हो रहा है तो वे अपनी शिकायत लेकर बुद्ध की शरण में पहुँचे।

शाक्य मुनि की यह विशेषता रही कि उन्होंने सबों का कल्याण ही सोचा। सर एडविन ऑरनाल्ड ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक "लॉइट आफ एशिया" की प्रस्तावना में लिखा है, "भले ही बौद्ध साहित्यों में बुद्ध की शिक्षा के विषय में विद्वानों में मतभेद हो पर संपूर्ण विश्व के समस्त बौद्ध साहित्य में इस महान सुकुमार राजकुमार, जो अंततः बुद्ध हो गए, के चरित्र में कोई कमी, कमजोरी का वर्णन नहीं है। इस प्रकार संसार के इतिहास में वे एक मात्र ऐसे व्यक्ति हैं जो पूर्णतः निष्कलंक हैं।"





गाथाः येसञ्च सुसमारद्धा, निच्चं कायगता सति।
अकिच्चं ते न सेवन्ति, किच्चे सातच्चकारिनो।
सतानं सम्पजानानं, अत्थं गच्छन्ति आसवा।।293।।

अर्थः इसके विपरीत जिन साधकों की इस अशुभ कर्त्तव्यों के प्रति सदा स्मृति बनी रहती है, ऐसे साधक उन अकरणीय कर्त्तव्यों के प्रति आँख भी नहीं उठाते तथा करणीय कर्मों को करने में सदैव ध्यान लगाये रहते हैं।

अशुभ की स्मृति रखें, शुभ होता जायेगा
भद्दियवासी भिक्षुओं की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

महाकारुणिक उन सांसारिक भिक्षुओं को सही मार्ग पर लाना चाहते थे। अतः उन भिक्षुओं को बुलाया और उन्हें समझाया, "भिक्षुओं ! तुम भूल गए हो कि किस भावना और किस उद्देश्य से प्रव्रजित हुए थे। आज तुम क्या कर रहे हो ? तुम अपने कर्त्तव्यों और अकर्त्तव्यों का स्मरण करो।" शास्त्रों में भिक्षुओं के पालन करने वाले कर्त्तव्य बताये गये हैं (1) अपरिमित शील स्कन्ध की रक्षा (2) अरण्यवास (3) द्युतांगव्रत का धारण एवं (4) करुणा, मैत्री आदि की भावना। इन्हें 'भिक्षुकृत्य' कहा जाता है। उनके लिए निषिद्ध कर्म हैं : अपने छाता, जूता, खड़ाऊँ, पात्र, थाली, जलपात्र, कायबन्धन, अंसबन्धन को सजाते, सँवारते रहना। जो इन अकृत्य कर्मों को करते हैं, समाज में उनकी प्रतिष्ठा कम हो जाती है। लोग उन्हें अश्रद्धा की दृष्टि से देखने लगते हैं और उनके चारों ही आस्त्रव बहुत अधिक बढ़ जाते हैं।

शाक्य मुनि ने आगे समझाया, "सांसारिक कार्यों को अपने उत्तरदायित्व के रूप में लेकर तुमने अपने आस्त्रवों की बाढ़ का सृजन कर दिया है। अब तुम ऐसे कृत करो जिनसे इनका सृजन बंद हो जाए और जो पहले से बन चुके हैं उनका प्रभाव कम हो जाए और अंततः वे समाप्त हो जायें।"

फिर बुद्ध ने उन्हें ये गाथाएं सुनाईं। वे भिक्षु अंततः अर्हत्व प्राप्त कर गए।





गाथा: मातरं पितरं हन्त्वा, राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा, अनीघो याति ब्राह्मणो।। 294।।

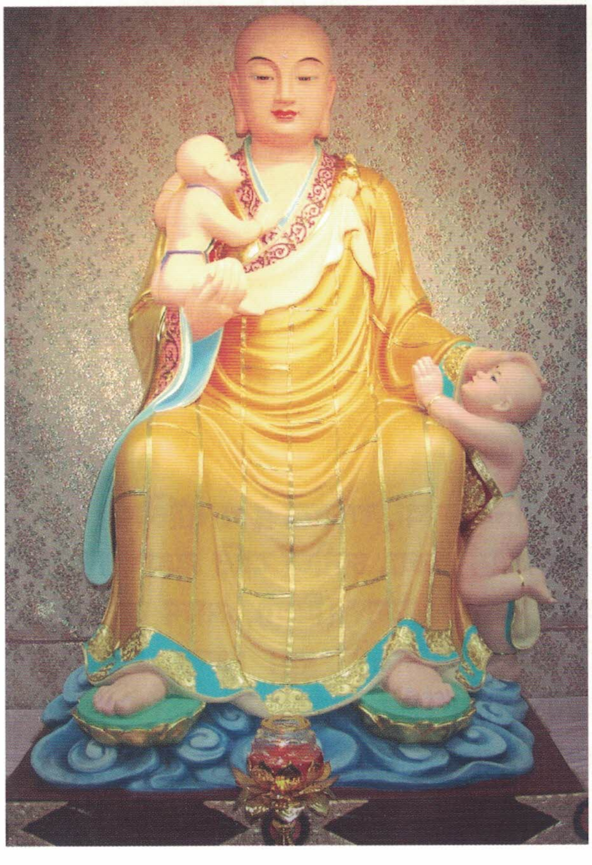
अर्थः तृष्णा (माता), अहंकार (पिता), आत्म दृष्टि तथा उच्छेद दृष्टि (दो क्षत्रिय राजाओं), राग (अनुचर) और पाँच उपादान स्कन्द यानि सारे संसार की आसक्ति (राष्ट्र) को मारकर ज्ञानी दुःख रहित (क्षीणास्त्रव) निष्पाप हो जाता है।

माता, पिता और राजा-दास को कैसे मारें ?
लकुण्टक भद्दिय की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

शाक्य मुनि जेतवन में विहरते थे। बहुत सारे आगन्तुक भिक्षु वहाँ पधारे। उन्हें सादर प्रणाम किया और एक ओर बैठ गए। उसी समय लकुण्टकभद्दिय स्थविर नामक एक थेर शास्ता से बिदा ले थोड़ी दूर जा रहे थे। लकुण्टकभद्दिय स्थविर को कई बार भिक्षुगण सामनेर मान बैठते थे क्योंकि वे कद से ठिगने थे। इस बार भी शास्ता ने उनके मन की दशा देखी। उन भिक्षुओं के मन की दशा को देखकर उनसे पूछा, "भिक्षुओं ! उस सामने जा रहे लकुण्टक भिक्षु को देख रहे हो ? उसने अपने माता-पिता की हत्या कर दी है और अब निर्दुःख (क्षीणास्त्रव) हुआ जा रहा है।" यह बात सुनकर भिक्षु अति आश्चर्यचकित हुए और एक दूसरे का मुँह देखने लगे। फिर उन्होंने साहस जुटाकर तथागत से कहा, "भन्ते ! आप यह क्या कह रहे हैं ? " तथागत ने उन्हें बताया, "इस भिक्षु ने न केवल माता-पिता की हत्या की है, बल्कि इसने दो क्षत्रिय राजाओं की, उनके दासों की और संपूर्ण राष्ट्र की भी हत्या की है और यह करके भी वह निर्दोष, निष्पाप और निष्कलंक निकल आया है।"

आगन्तुक भिक्षुओं को शाक्य-मुनि की यह बात एक पहेली की तरह लगी। वे संदेह और भ्रम में पड़ गए। माता-पिता, राजा, दास और संपूर्ण राष्ट्र का क्या अर्थ है ? हत्या से तथागत का तात्पर्य क्या है ? जब वे उत्तर नहीं ढूँढ़ पाये तो शास्ता से इस संदेह को दूर करने का आग्रह किया। तब शास्ता ने उनको स्पष्ट करते हुए कहा, "यह स्थविर अर्हत हो चुका है। तृष्णा ही सभी प्रकार के क्लेशों की जननी है। तृष्णा ही बार-बार हमें संसार की भौतिक माता की कोख में भेजती है और जन्म-मृत्यु के चक्कर में बाँधे रखती है। तृष्णा समाप्त कर देने से बार-बार कोख में आने की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है।" "अहंकार पिता है। जैसे पिता और माता के संयोग से भौतिक शरीर बनता है उसी प्रकार अहंकार और तृष्णा के संयोग से हमारा कर्म सृजित होता है और हम जन्म-मरण के आवागमन से जुड़ जाते हैं। अगर हम माता और पिता, तृष्णा और अहंकार को समाप्त कर दें तो हम भव बंधन से मुक्त हो जायेंगे।"





गाथा: मातरं पितरं हन्त्वा, राजानों द्वे च सोत्थिये।
वेयग्घपञ्चमं हन्त्वा, अनीघो याति ब्राह्मणो।।295।।

अर्थ: तृष्णा (माता) अहंकार (पिता), आत्म दृष्टि तथा उच्छेद दृष्टि (दो क्षत्रिय राजाओं), राग (अनुचर) और पाँच आवरणों (व्याघ्र) को मारकर ज्ञानी दु:ख रहित (क्षीणास्त्रव) निष्पाप हो जाता है।

हत्या कर भी क्षीणास्त्रव कैसे ?
लकुण्टक भद्दिय की कथा

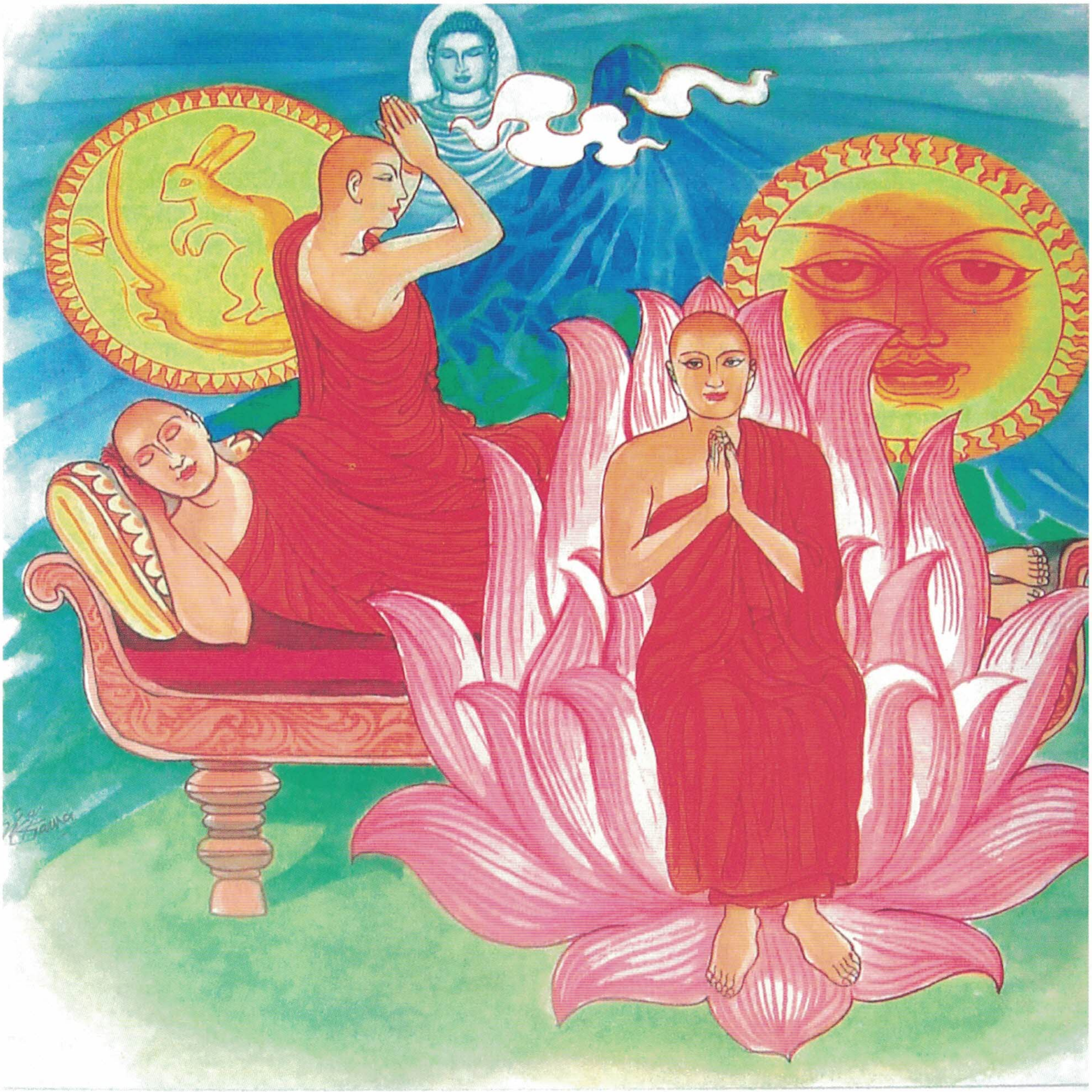
"दो क्षत्रिय राजा हैं- शाश्वतवाद (आस्तिकता) तथा उच्छेदवाद (नास्तिकता)। हम सबों के ऊपर इन दोनों में से एक राजा राज्य करता रहता है। इन दोनों का ही शासन कष्ट दायक है। अतः बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह इन दोनों से ऊपर उठे। अपने अन्दर दोनों ही प्रकार की शंकाओं का नाश कर दे और फिर मध्यम मार्ग अपना ले। जो ऐसा करेगा वह सभी प्रकार के दुःखों से ऊपर उठ जाएगा।"

"जहाँ राजा रहेगा; उसके साथ उसके सिपाही भी होंगे। दास उसके साथ-साथ ही चलेंगे। ये दास हैं - अन्य सिद्धांत, अन्य दर्शन, सारे शास्त्र। ये सभी दास हमें जंजीरों में जकड़े रखते हैं तथा एक कैदी की तरह अपने साथ लिए चलते हैं। जो इन दासों को मार देगा अर्थात् सिद्धांत, दर्शन, और शास्त्रों से ऊपर उठ जाएगा वह निश्चय ही इन जंजीरों से मुक्त हो जाएगा।" ऐसा व्यक्ति फिर पाँच बाघों को भी मार डालता है। ये पाँच बाघ हैं : हमारी पाँच इन्द्रियाँ जिनके माध्यम से मनुष्य शरीर से जुड़ा हुआ होता है।

लकुण्टक भद्दिय थेर देखने में तो छोटे कद के थे पर उन्होंने जीवन में यह सब कुछ कर लिया था। अतः वे अर्हत हो चुके थे। भिक्षुओं के समझ में बात आ गई।

तब शास्ता ने ये दो गाथायें कहीं।





गाथा: सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं बुद्धगता सति।। 296।।

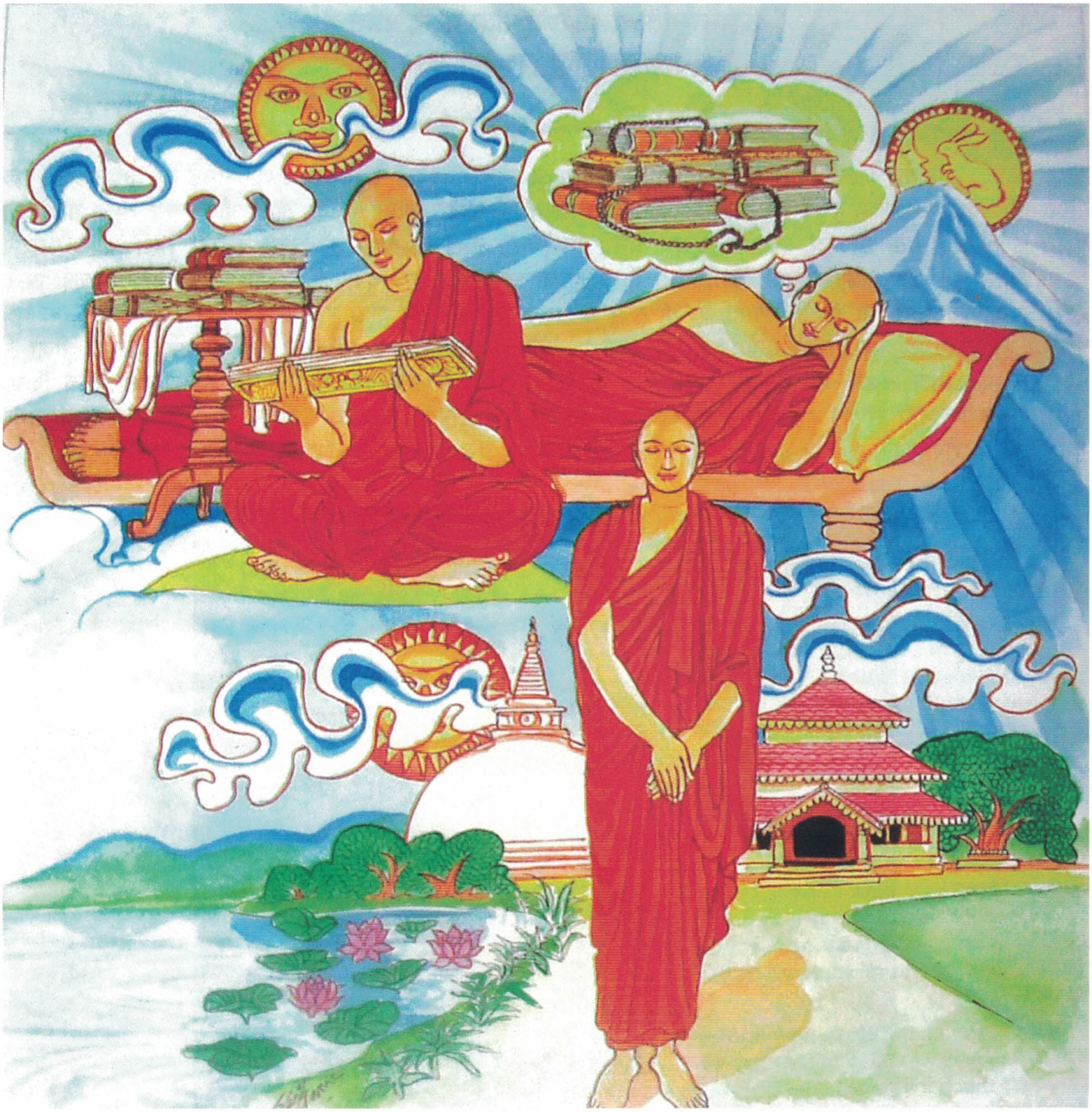
अर्थ: जिनकी दिन-रात बुद्ध-विषयक स्मृति बनी रहती है, गौतम (बुद्ध) के वह शिष्य खूब जागरुक रहते हैं।

बुद्धानुस्मृति वाले शिष्य सदा प्रबुद्ध रहते हैं
दारूशाकटिक पुत्र की कथा

स्थान : वेणुवन, राजगृह

यह घटना उस समय की है, जब शाक्य मुनि राजगृह में विद्यमान थे। नगर के दो लड़के, एक सम्यग्दृष्टि का पुत्र और दूसरा मिथ्यादृष्टि का पुत्र गलियों में सदैव गोलियों का खेल और अन्य खेल भी खेला करते थे। सम्यग्दृष्टि का पुत्र गोलियाँ फेंकते समय या किसी खेल के प्रारंभ में 'नमो बुद्धाय' मन्त्र का उच्चारण किया करता था और तब गोलियाँ फेंकता था या खेल प्रारंभ करता था। दूसरा, मिथ्यादृष्टि का पुत्र, किसी अन्य मंत्र का जाप करता हुआ गोली फेंकता था या खेल प्रारंभ करता था। हर बार, हर खेल में सम्यग्दृष्टि वाले का पुत्र विजयी हो जाता था तथा मिथ्यादृष्टि वाले का पुत्र पराजित। जीतने वाला बालक दाँव-पेंच, शक्ति सभी चीजों में पराजित होने वाले लड़के से कमजोर था। फिर भी जीतता वही था। हारने वाले ने हर प्रकार के प्रयत्न किए, परन्तु वह जीत नहीं सका। वह जीतने वाले के खेलने के तौर-तरीकों पर विचार करता, विश्लेषण करता, चिंतन-मनन करता और एकान्त में अभ्यास करता पर सब कुछ करने पर भी सफलता उसके हाथ कभी नहीं लगी।





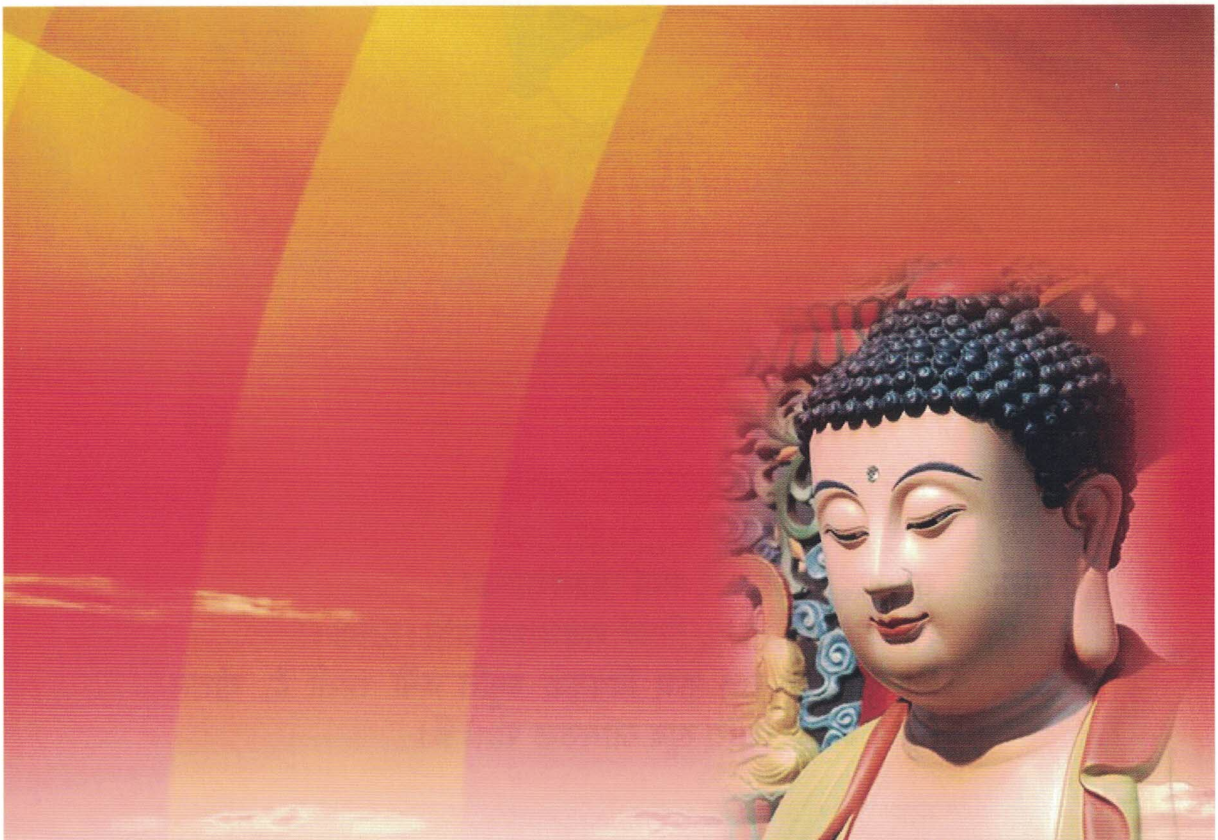
गाथाः सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं धम्मगता सति।।297।।

अर्थः जिनकी दिन-रात धर्म-विषयक स्मृति बनी रहती है, गौतम (बुद्ध) के वह शिष्य खूब जागरुक रहते हैं।

धर्मानुस्मृति वाले शिष्य सदैव प्रबुद्ध रहते हैं
दारूशाकटिक पुत्र की कथा

हारने वाले बालक ने जीतने वाले बालक की मनःस्थिति को देखना शुरू किया। उसने पाया कि जीतने वाला बालक सदैव शांत चित्त रहता है, वह कभी बेचैन नहीं दीखता है और न उसने उसमें जीतने की प्रबल महत्वाकांक्षा ही देखी। वह खेलता था मात्र खेलने के लिए, अपना मन पूरी तरह एकाग्रचित्त करके खेलता था। वास्तव में वह सदैव अपने मन को स्थिर करके, सम्यक गति का खेल प्रारंभ करता था। खेल से पूर्व वह सदैव अपनी स्मृति को सम्यक बनाता था और अपनी स्मृति को, अपने मन को स्थिर करने के लिए वह बुद्धानुस्मृति कर खेल शुरू करता था। हारने वाले ने यह सब देखा और उसने उससे जीत का रहस्य पूछ लिया। जीतने वाले बालक ने उसे बता दिया कि वह हर खेल का प्रारंभ बुद्ध का स्मरण कर और 'नमो बुद्धाय' मंत्र का उच्चारण करने के बाद ही प्रारंभ करता था।

मिथ्यादृष्टि के पुत्र ने भी 'नमो बुद्धाय' कहना प्रारंभ कर दिया। उसे पहले से कुछ मालूम नहीं था। उसका मन, दिमाग और बुद्धि तो एक कोरे कागज की तरह था। फिर भी थोड़े ही दिनों में परिणाम सामने आने लगा। वह पहले की अपेक्षा थोड़ा शांत हो गया। उसके मन की बेचैनी कम होने लगी। वह भी अब सिर्फ जीतने के भाव से नहीं खेलता था। खेल की भावना से खेल खेलने लगा। अब उसे हारने में वह पीड़ा नहीं होती थी जैसी पहले हुआ करती थी। उसने भी सम्यक स्मृति की आदत डाल ली थी। यह आदत उसने खेल-खेल में डाल ली थी। लेकिन जो आदत उसने खेल-खेल से शुरू की थी वह अब उसके जीवन का अंग बन गई थी। अनजाने में ही उसके जीवन का कल्याण हो गया था।





गाथा: सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं सङ्घगता सति।।298।।

अर्थ: जिनकी दिन-रात सघ विषयक स्मृति बनी रहती है, गौतम (बुद्ध) के वह शिष्य खूब जागरुक रहते हैं।

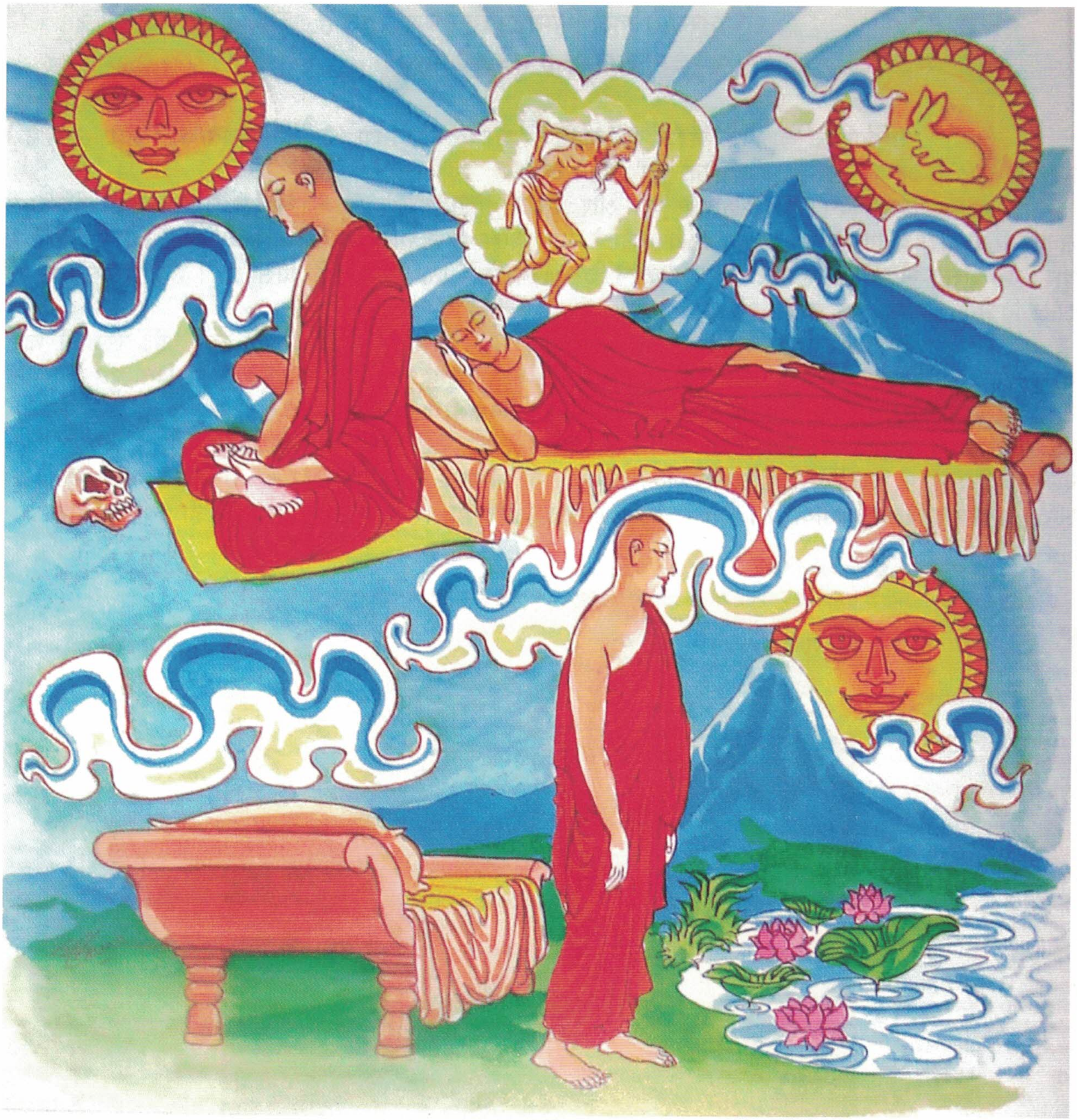
संघानुस्मृति वाले शिष्य सदैव प्रबुद्ध रहते हैं
दारूशाकटिक पुत्र की कथा

सम्यगदृष्टि का पिता जंगल से लकड़ियाँ काटकर लाता था और उसे बेचता था। अतः लोग उसे पिता के नाम के आधार पर 'दारूशाकटिक पुत्र' कहने लगे।

एक दिन दारूशाकटिक पुत्र और उसके पिता दोनों वन में लकड़ी काटने गए। पिता-पुत्र लकड़ियों से भरी बैलगाड़ी लेकर शाम में घर लौटने लगे। बोझा भारी था अतः बैल धीरे-धीरे चल रहे थे। रास्ते में थोड़ी देर सुस्ता लेने के लिए और जलपान करने के उद्देश्य से वे एक श्मशान के पास रुके। उन्होंने बैलों को भी खोल दिया कि वे भी कुछ चर लें और सुस्ता लें।

पिता-पुत्र दिन भर के शारीरिक परिश्रम से थक गए थे। अतः आँख लग गई। बैल भी घास चरते-चरते आगे बढ़ गए। कोई रोकने वाला नहीं था । वे राजगृह नगर में प्रवेश कर गए। पिता-पुत्र की नींद खुली। देखा बैल नदारत थे। पिता ने सोचा "क्या करें ? " बैलगाड़ी को अकेला छोड़ नहीं सकता था और पुत्र बैल ढूँढ़कर ला नहीं सकता था। अतः पिता ने पुत्र को बैलगाड़ी पर बिठा दिया और स्वयं बैल खोजने निकल पड़ा। बैल नजदीक में न मिलने पर खोजते-खोजते राजगृह नगर में उसे बैल मिल गए। वह उन बैलों को साथ लेकर लौटने लगा पर विलंब हो गया था। अतः नगर के सभी द्वार बंद हो गए थे और उसे नगर में ही रुक जाना पड़ा।





गाथा: सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं कायगता सति।।299।।

अर्थ: जिनकी दिन-रात काय-स्मृति बनी रहती है, गौतम (बुद्ध) के वह शिष्य खूब जागरुक रहते हैं।

कायगतास्मृति वाले शिष्य सदैव प्रबुद्ध रहते हैं
दारूशाकटिक पुत्र की कथा

उधर उसका बेटा बैलगाड़ी पर बैठा पिता की प्रतीक्षा कर रहा था। पिता नगर के अंदर बंद था और उसका बेटा उधर श्मशान में अकेला। बेटा गाड़ी के नीचे छिपकर सो गया। राजगृह में बहुत सारे भूत-पिशाच रहता थे और बेचारा लड़का श्मशान में अकेला था। रात का अंधेरा छाते ही दो प्रेतों ने उसे देख लिया। उधर लड़के के मन में तरह-तरह के विचार आने लगे। लेकिन वह शांत होकर बुद्धानुस्मृति 'नमो बुद्धाय, नमो बुद्धाय' का उच्चारण करने लगा। वह भयभीत नहीं हुआ और शांतिपूर्वक वहीं लेटा रहा। बौद्ध साहित्य में जिक्र आता है कि उसी समय दो प्रेत आए - एक बुद्ध शासन का विरोधी मिथ्यादृष्टि था और दूसरा सम्यग्दृष्टि था जिसकी बुद्ध-शासन में प्रीति थी। उनमें से मिथ्यादृष्टि ने कहा, "यह खाने की वस्तु है। इसे खा जाना चाहिए।" सम्यग्दृष्टि ने कहा, "नहीं, ऐसा करना उचित नहीं होगा। तुम ऐसा मत करो।" पर मिथ्यादृष्टि नहीं माना, उसने उस बालक के पैर पकड़ लिए और पकड़कर खींचने लगा। बालक को लग गया कि उसका पैर खींचा जा रहा है पर वह अपने स्वभाव के अनुसार 'नमो बुद्धाय' मंत्र का जाप करने लगा। बौद्ध मंत्र सुनते ही मिथ्यादृष्टि वहाँ से दूर भाग खड़ा हुआ।





गाथा: सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, अहिंसाय रतो मनो।।300।।

अर्थ: जिनका मन दिन-रात अहिंसा में रत रहता है,
गौतम (बुद्ध) के वह शिष्य खूब जागरुक रहते हैं।

अहिंसास्मृति वाले शिष्य सदैव प्रबुद्ध रहते हैं
दारूशाकटिक पुत्र की कथा

तब सम्यग्दृष्टि प्रेत ने मिथ्यादृष्टि प्रेत को समझाया, "हमने उस लड़के के साथ ऐसा व्यवहार करके उसके साथ बहुत बड़ा अन्याय किया है। अब हमें इसका प्रायश्चित करना चाहिए।" ऐसा कहकर वे दोनों उसकी रक्षा में बैठ गए। मिथ्यादृष्टि ने सोचा, "बच्चे को भूख लगी होगी।" अतः राजमहल गया और राजा के सोने की थाली में बालक के लिए भोजन ले आया। उस बालक के सामने भोजन रख दिया। फिर दोनों प्रेतों ने उस बालक के माता-पिता का रूप धारण कर लिया और उसे खाना खिला, रात भर उसकी रक्षा करते रहे। उन्होंने थाली को बैलगाड़ी में लकड़ी के अंदर छुपा दिया।

सुबह-सुबह राजमहल में हंगामा हो गया कि 'राजा के रसोईघर से सोने की थाली चोरी हो गई है।' सुरक्षा की दृष्टि से नगर के सभी द्वार बंद कर दिये गये और जब नगर के अंदर थाली नहीं मिली तो राज सिपाही थाली खोजते हुए नगर के बाहर निकले। खोजते-खोजते वे बैलगाड़ी तक पहुँचे और वहाँ बैलगाड़ी से सोने की थाली बरामद कर ली। राज सिपाहियों ने सोचा कि इसी लड़के ने चोरी की है। अतः उसे पकड़कर राजा के पास ले गए। राजा ने लड़के से पूछा, "क्या बात है ? " बालक ने कहा, "मैं कुछ नहीं जानता हूँ। सिर्फ यह जानता हूँ कि रात्रि बेला में मेरे माता-पिता मेरे पास आए, उन्होंने मुझे भोजन कराया और मेरे पास बैठे रहे। मैं भी यह सोचकर कि 'मेरे माता पिता मेरे पास ही बैठे हैं तथा मेरी रक्षा कर रहे हैं', निश्चिन्त होकर रात भर सोता रहा। मैं सिर्फ इतना ही जानता हूँ। इसके अलावा और कुछ नहीं जानता।"





गाथा: सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, भावनाय रतो मनो।।301।।

अर्थ: जिनका मन दिन-रात योग-अभ्यास (भावना) में रत रहता है, गौतम (बुद्ध) के वह शिष्य खूब जागरुक रहते हैं।

नित्यभावनास्मृति वाले शिष्य सदैव प्रबुद्ध रहते हैं
दारूशाकटिक पुत्र की कथा

जब यह वार्तालाप चल रहा था तो उसी समय लड़के के माता-पिता वहाँ आ गए। राजा को सच्चाई का पता चल गया। तब वह माता-पिता और पुत्र- तीनों को लेकर शाक्य मुनि के सम्मुख उपस्थित हुआ। उसने शास्ता से जिज्ञासा जाहिर की, "भन्ते ! क्या बुद्धानुस्मृतिमात्र से कष्ट और भयों से छुटकारा पाया जा सकता है या उसके साथ-साथ धर्मानुस्मृति भी आवश्यक है ? " तब शास्ता ने स्पष्ट किया, "केवल बुद्धानुस्मृति मात्र ही रक्षक नहीं होती है। बल्कि जिनका चित्त छः प्रकार से अभ्यस्त है उन्हें किसी और रक्षा कवच या मन्त्रौषधि की जरूरत नहीं पड़ती है।"

उन छः प्रकारों का वर्णन करने के लिए तथागत ने ये छः गाथायें कहीं।





गाथा: दुप्पब्बज्जं दुरभिरमं, दुरावासा घरा दुखा।
दुक्खोसमानसंवासो, दुक्खानुपतितद्धगू।
तस्मा न चद्धगू सिया, न च दुक्खानुपतितो सिया।।302।।

अर्थ: संसार में प्रब्रजित होना बहुत कठिन है। गृहस्थ में रहना दु:खकर है, न अनुकूल प्रकृति के लोगों के साथ रहना दु:खद है, संसार के आवागमन के पथ का पथिक होना दु:खद है। इसलिए न तो संसाररूपी मार्ग का पथिक बनें और न दु:ख में पड़ने वाला बनें।

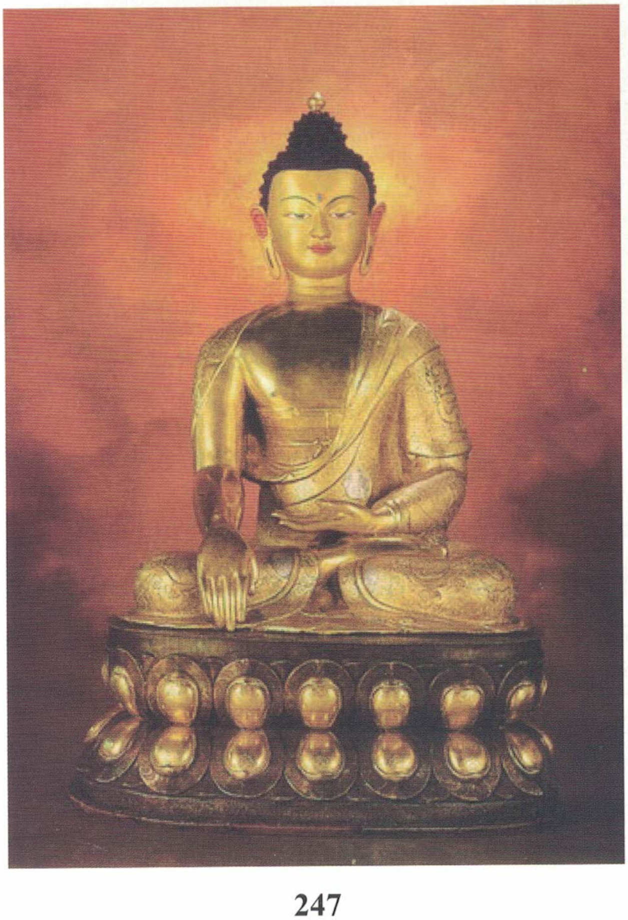
संसार के आवागमन से मुक्ति लें
वज्जिपुत्तक भिक्षु की कथा

स्थान : महावन, वैशाली

शाक्य मुनि उन दिनों वैशाली में विराजमान थे। पूर्णिमा का दिन था। कार्तिक का मास था। नगर में उत्सव का माहौल था। चारों ओर उत्सव आयोजित हो रहे थे। मधुर संगीत लहरी बह रही थी। लोग उसमें आनन्द के गोते लगा रहे थे।

उसी शोर-शराबे के बीच एक वज्जिपुत्त भिक्षु अरण्यक के विहार से निकल कर वैशाली नगर में प्रविष्ट हुआ। उत्सव के अवसर पर बजने वाले संगीत को सुनकर उसका मन उदास हो गया। उसे लगा कि वह भिक्षु का जीवन निरर्थक ही जी रहा है। इससे तो अच्छा था कि वह गृहस्थ का ही जीवन जीता। उसके मुँह से अकस्मात् निकल पड़ा, "हम लोग दूर एकान्त वन में, जंगल में कटे लकड़ी के कुन्दे की तरह पड़े हैं। हम लोगों के जैसा और कौन मन्दभाग्यवाला पापी होगा जो आज ऐसी सुन्दर रात्रि में भी इस प्रकार पड़ा हुआ है ? " यह सोचकर उसने निर्णय लिया कि अगले दिन वह प्रव्रज्या त्याग देगा तथा एक बार फिर गृहस्थ का जीवन अपना लेगा। उसके मन की बात को देखकर एक वन देवता ने सोचा कि मैं इस दुःखी भिक्षु का मन शांत करूँगा। अतः उसके सामने आकर उसने यह गाथा कही : निश्चय ही आप जैसे लोग दूर, एकान्त में जंगल में एक कटे हुए कुन्दे की तरह पड़े हुए हैं। लेकिन आपकी स्थिति से अनेक लोगों को उसी प्रकार ईर्ष्या होती है जैसे नरक में रहने वालों को स्वर्ग में रहने वालों के प्रति होती है।

सूर्योदय हुआ। वह भिक्षु शाक्य-मुनि के सम्मुख सादर प्रणाम किया और फिर एक तरफ खड़ा हो गया। शास्ता सर्वज्ञ थे। उन्होंने उसके मन की स्थिति जान ली और उसे पाँच प्रकार के दुःख गिनाये। उन्होंने गृहस्थी में होने वाले जंजाल से उत्पन्न दुःख के विषय में भी बताया और तब यह गाथा कही।





गाथा: सद्धो सीलेन सम्पन्नो, यसोभोगसमप्पितो।
यं यं पदेसं भजति, तत्थ तत्थेव पूजितो।। 303।।

अर्थ: श्रद्धावान, शीलवान और यश और सम्पत्ति से युक्त कुलपुत्र जिस-जिस प्रदेश में जाता है, वहीं-वहीं लाभ सत्कार से पूजित होता है।

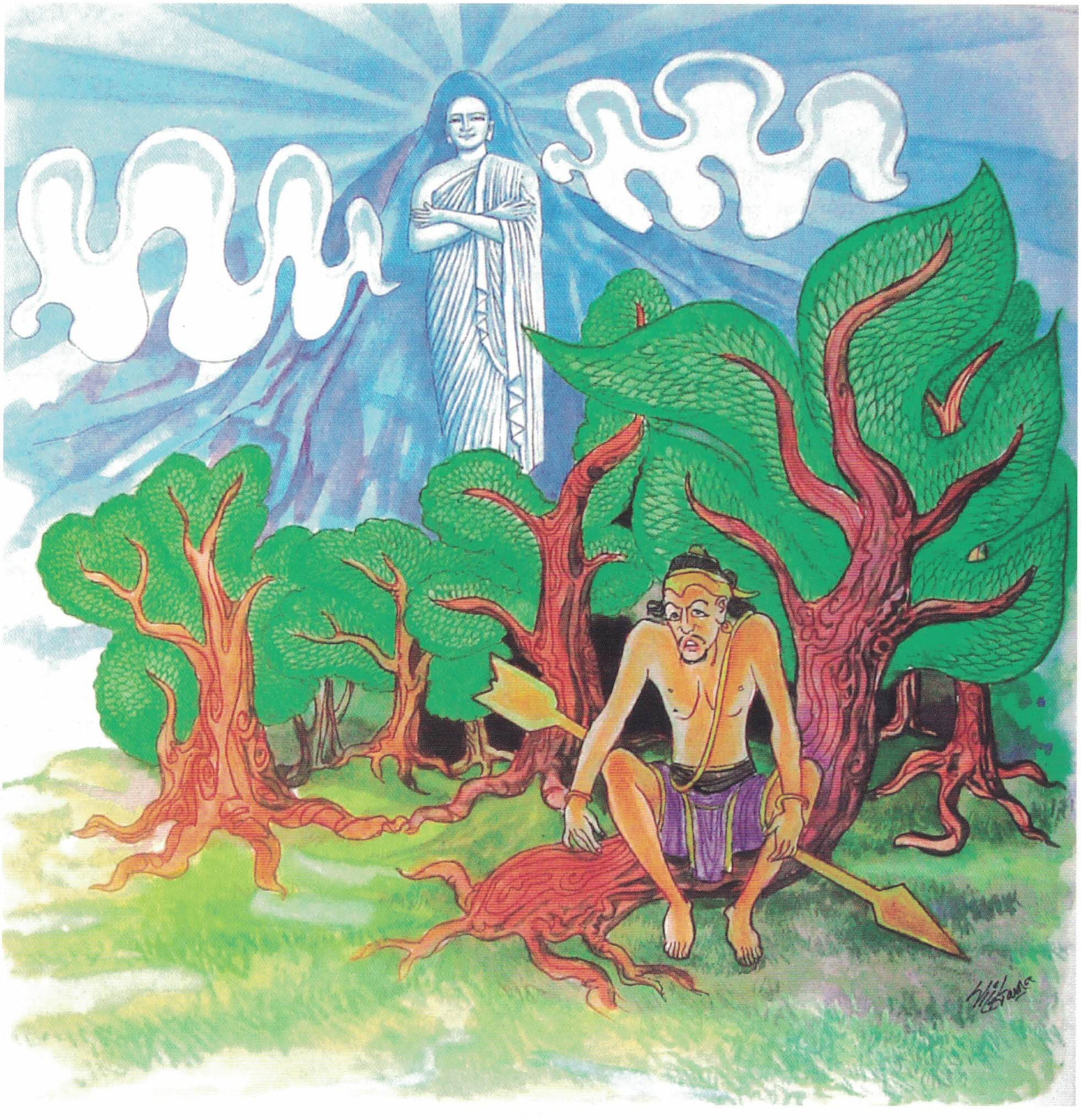
शीलवान की सर्वत्र पूजा होती है
चित्त गृहपति की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

चित्त गृहपति अनागामी था। थेर सारिपुत्त से धर्म श्रवण करके उसने यह फल प्राप्त किया था। एक बार वह कई बैलगाड़ियों में उपहार भरकर श्रावस्ती आया और उन्हें शाक्य-मुनि एवं भिक्षुसंघ को दान में दे दिया। जब वह दान दे रहा था तब आकाश से फूलों की वर्षा होने लगी। चित्त गृहपति वहाँ एक महीना रुका और अपने अनुचरों के साथ खुले ह्दय से दान करता रहा। फिर भी उसके भंडार पूरे के पूरे भरे रहे।

जब वह वापस जाने को हुआ तो सभी बचा-खुचा सामान विहार के भंडारागार में रखवा दिया। पर उसकी बैलगाड़ियाँ धन-धान्य से पूरी तरह भर गईं। थेर आनन्द को आश्चर्य हुआ और उन्होंने तथागत से पूछा, "क्या चित्त का वैभव बढ़ना आपके पास आने का परिणाम है ? क्या उसे यह लाभ सिर्फ आपके पास आने से प्राप्त हुआ है या अन्यत्र जाने से भी प्राप्त होगा ? " शास्ता ने समझाया, "यह उपासक श्रद्धालु है, शीलवान है, रत्नत्रय के प्रति समर्पित है। अत: यह जहाँ भी जाता है उसे आदर-सत्कार प्राप्त होता है।"





गाथा: दूरे सन्तो पकासेन्ति, हिमवन्तोव पब्बतो।
असन्तेत्थ न दिस्सन्ति, रत्तिं खित्ता यथा सरा।। 304।।

अर्थ: सत्पुरुष, हिमालय पर्वत की भाँति दूर से भी प्रकाशित होकर दीखते हैं। असत्पुरुष निकट होने पर भी रात्रि में फेंके गए बाण की तरह नहीं दिखाई देते।

सत्पुरुष दूर से ही दिखते हैं
चूल सुभद्रा की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

अनाथपिंडिक और उग्र सेठ बचपन के मित्र थे। साथ-साथ ही बड़े हुए। दोनों में प्रगाढ़ मित्रता थी यद्यपि अनाथपिंडिक बुद्ध का अनुयायी था और उग्र सेठ नंगे साधुओं का। उग्र सेठ को एक पुत्र हुआ, अनाथपिंडिक को एक पुत्री; चूल सुभद्रा नाम था उसका। दोनों ने बच्चों की शादी करने की सोची। अनाथपिंडिक ने बुद्ध से अनुमति माँगी। उग्र सेठ के धर्म के प्रति भविष्य के भाव को देखकर उन्होंने अनुमति दे दी।

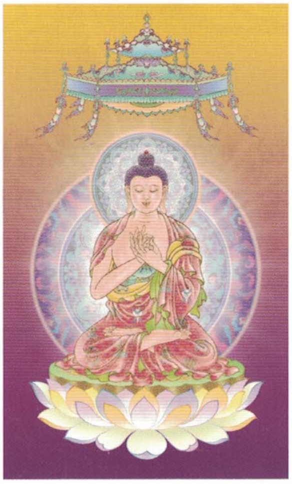
विवाह सम्पन्न हो गया। अनाथपिंडिक ने विदाई से पूर्व अपनी बेटी को समझाया, "बेटी ! श्वसुर घर में रहते हुए घर की अग्नि बाहर नहीं निकालनी चाहिए।"

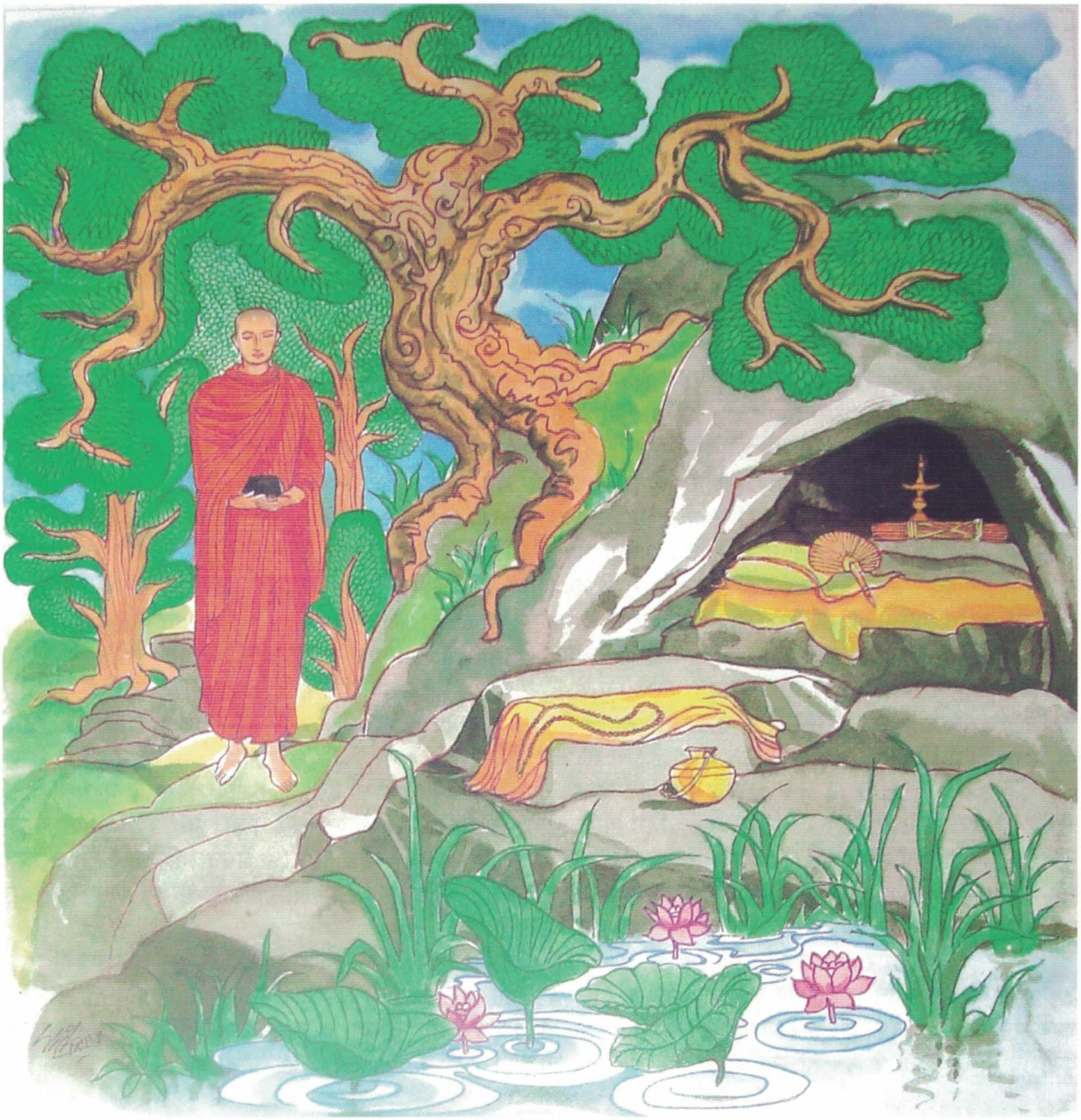
ससुराल में सुभद्रा के परिवारवालों तथा नागरिकों ने ह्रदय से स्वागत किया। एक दिन उग्र सेठ ने नागा साधुओं को निमंत्रित किया था। परिवार वालों ने उन पर श्रद्धा प्रकट की पर सुभद्रा लज्जावश उन साधुओं के पास नहीं गई, वन्दना की बात ही कौन करे ? बार-बार बुलाये जाने पर भी जब सुभद्रा नहीं आई तो श्वसुर ने आदेश दिया कि इस बहू को बाहर निकाल दिया जाये। इस पर सुभद्रा ने श्वसुर को जवाब दिया, "मेरे जैसे निर्दोष को बिना किसी कारण के बाहर नहीं निकाला जा सकता।" लोगों ने उग्र सेठ को समझा-बुझाकर शांत किया।

उसकी सास ने एक दिन अपनी बहू से पूछा, "तुम बुद्ध और उनके भिक्षुओं की निरंतर प्रशंसा करती रहती हो। उनके आचार-व्यवहार और गुणों के विषय में बताओ।" तब सुभद्रा ने बुद्ध एवं उनके शिष्यों के गुणों का वर्णन इस प्रकार किया, "वे संयत इन्द्रिय, शांत मन वाले हैं, वे सभी कार्य सोच-समझकर करते हैं, अन्दर और बाहर दोनों से स्वच्छ, शंख और मोती के समान निर्मल हैं। उनका आचरणीय धर्म भी पूर्णतः शुद्ध है। साधारण-जन थोड़ा सा लाभ पा अभिमान करने लगते हैं और थोड़ी सी हानि होने से दुःखी होने लगते हैं पर बुद्ध शिष्यों का मनोभाव हर परिस्थिति में एक जैसा रहता है। उसी प्रकार वे यश और अपकीर्ति, प्रशंसा या निन्दा, सुख या दुःख दोनों स्थितियों में एक समान रहते हैं। चंचल नहीं होते।"

इन बातों को सुनकर परिवार वालों ने उससे कहा, "तुम इन्हें बुलाओ। देखें तो ये कैसे हैं।" सुभद्रा ने बुद्ध और भिक्षुओं के लिए अगले दिन भोजनदान की तैयारी करने के लिए कहा। वह स्वयं अपने महल की छत पर गई और जेतवन की ओर मुँह कर, पंचाग प्रणाम कर प्रार्थना की, "भन्ते ! अपने भिक्षुओं के साथ कल मेरे घर पर भोजन दान के लिए पधारें।" ऐसा कह उसने जूही के आठ फूल आकाश की ओर फेंके। उसके परिवार वाले इस कार्य पर काफी हँसे, क्योंकि जेतवन वहाँ से बहुत दूर था।

उधर शाक्य मुनि प्रवचन दे रहे थे। प्रवचन रोककर उन्होंने पूछा, "जूही की सुगन्ध आ रही है न ? " ऐसा कह उन्होंने उग्र नगर की ओर अपनी दृष्टि कर ली। उसी समय अनाथपिंडिक ने आग्रह किया, "भन्ते ! कल मेरे घर भोजन ग्रहण करें।" शास्ता ने कहा, "मैं तो तुम्हारी बेटी सुभद्रा से निमंत्रित हूँ।" "पर उसने आपको कैसे निमंत्रित किया ? मैंने तो उसे देखा तक नहीं। मैं तो यहीं हूँ।" तब शास्ता ने यह गाथा कही।





गाथा: एकासनं एकसेय्यं, एको चरमतन्दितो।
एको दमयमत्तानं, वनन्ते रमितो सिया।। 305।।

अर्थ: एक ही आसन पर निश्चल बैठने वाला, एक ही शयनासन का उपयोग करने वाला, एकाकी विचरण करने वाला, आलस्य रहित होकर आत्मसंयमी साधक भिक्षु वन के एकांत प्रदेश में आनन्द से रहता है।

आत्मसंयमी साधक तो अकेला ही चलेगा
अकेले विहार करने वाले थेर की कथा

स्थान : जेतवन, श्रावस्ती

शाक्य मुनि जेतवन में विहरते थे। विहार में अनेक भिक्षु रहकर ध्यान-साधना का अभ्यास करते थे। वे आपस में मिलते-जुलते भी थे, धर्म-चर्या भी करते थे, लेकिन उनमें एक भिक्षु इनसे सर्वथा भिन्न था। वह दूसरे भिक्षुओं से मिलता-जुलता नहीं था। वह एकान्त प्रेमी था। वह अपना आसन अकेला ही कहीं अलग लगाता था। अकेला ही उठता-बैठता था। अकेला ही कहीं खड़ा होता था। अकेला ही चंक्रमण करता था। वह पूर्णतः एक विहारिक था।

दूसरे भिक्षुओं को यह बात कुछ अटपटी-सी लगी। बात पूरे विहार में फैल गई। 'एक विहारिक' भिक्षु संघ में चर्चा का विषय बन गया। भिक्षुओं ने उसके अकेलेपन की चर्चा तथागत से की। शास्ता ने उसकी चर्या को अनुचित नहीं ठहराया, वरन् उसे उचित ठहराते हुए उसे साधुवाद दिया और कहा, "भिक्षु को इसी प्रकार एकांतवासी होना चाहिए। उसे एकाकी होकर विचरण करना चाहिए। एकान्त के आनन्द की अनुभूति लेनी चाहिए। भीड़-भाड़ के आनन्द से बचना चाहिए और 'अपने साथ' रहना चाहिए। एकासन वाला, एकशय्या वाला, आलस्य रहित होकर एकान्त प्रदेश में वास करना चाहिए।"

तब शाक्य मुनि से यह गाथा कही।



DHAMMAPADA

PAKINNAKA VAGGA

